THE BOOK WAS DRENCHED

# गल्प-रत्न

हिन्दी के

विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम

गल्पों का संग्रह

---

सम्पादक

**प्रेमचन्द**

---


| ग्यारहवाँ | जुलाई | मूल्य |
| --- | --- | --- |
| संस्करण | १९४८ | डेढ़ रुपया |

सरस्वती प्रेस बनारस

# अनुक्रम



---

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस।

# प्राक्कथन

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मन के रहस्य खोला करता है। इसी आलोचना को, और प्राचीन काल की आख्यायिका इसी रहस्योद्घाटन को, 'साहित्य' कहते हैं, चाहे वह गद्य हो या पद्य। और आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है, आज से नहीं, आदिकाल से ही, जब मनुष्य को लिखना न आता था। हाँ, आज-कल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि से बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी, या आध्यात्मविषयक। वर्तमान आख्यायिका साहित्य के दूसरे अंगों की भाँति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोरहस्य के उद्घाटन को अपना ध्येय समझती है। यह स्वीकार कर लेने में हमें संकोच न होना चाहिए, कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है। मगर पाँच सौ वर्ष पहले, यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, कुछ परियों और भूतों की कहानियाँ अलबत्ता प्रचलित थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर या उससे भी कम समझो, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है। कोई पत्रिका ऐसी नहीं, जिसमें कहानियों की प्रधानता न हो! यहाँ तक कि कितनी ही पत्रिकाएँ तो कहानियों के सिवा और कुछ देतीं ही नहीं। हाँ, जिन पत्रिकाओं को नफा-नुकसान की चिन्ता नहीं और वह किसी विशेष उद्देश्य से निकाली जाती हैं, उनकी बात अलग है। ऐसी दार्शनिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, व्यवसायिक पत्रिकाएँ हैं, जिनमें कहानियों का प्रवेश नहीं होता; पर वे जनता के लिए नहीं, विशेष सम्प्रदायों के लिए निकाली जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवनसंग्राम और

समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने ख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी के लहरों में ग़ोते खाया करें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य १८ घंटे काम कर सकते तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है। इसलिए हम चाहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाय। इसी लिए सिनेमा घरों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घंटों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए १५-२० मिनट ही काफी हैं; अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावें, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेश में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि वह बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक-दो घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सके, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं। और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चाताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है; मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं; वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से परिणाम या तत्व निकले, वह सर्वमान्य हो, और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है, जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उसके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

मगर यह समझना बड़ी भारी भूल होगी कि कहानी वास्तविक जीवन का चित्र होती है। वास्तविक जीवन का चित्र तो किसी डायरी में ही मिल सकता है। कहानी, कहानी है; यथार्थ नहीं हो सकती। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है, जब उसकी बिलकुल जरूरत न थी। लेकिन कहानी में ऐसा अन्त हो जाय, तो वह पाठक को अरुचिकर होगा। पाठक ने जिस पात्र

का अंकुर देखा है, उसे बढ़कर फलते-फूलते भी देखना चाहता है। उसे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपना पार्ट खेलते देखना चाहता है। कला का रहस्य है कृत्रिमता, पर वह कृत्रिमता जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो। कलाविद् अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ तोड़-मरोड़ करता है, कुछ घटाता है, कुछ बढ़ाता है, कुछ छिपाता है, कुछ खोलता है, तब उसका मनोरथ सिद्ध होता है।

—प्रेमचन्द

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

# इक्केवाला

स्टेशन के बाहर आकर मैंने अपने साथी मनोहरलाल से कहा—कोई इक्का मिल जाय, तो अच्छा है—दस मील का रास्ता है। मनोहरलाल बोले—आइए, इक्के बहुत हैं। उस तरफ़ खड़े होते हैं।

हम दोनों चले। लगभग दो सौ गज़ चलने के पश्चात् देखा, तो सामने एक बड़े वृक्ष के नीचे तीन-चार इक्के खड़े दिखाई दिये। एक इक्का अभी आया था और उस पर से दो आदमी अपना असबाब उतार रहे थे। मनोहर-लाल ने पुकारा—कोई इक्का गंगापुर चलेगा?

एक इक्केवाला बोला—आइए सरकार मैं ले चलूँ। कै सवारी हैं?

'दो सवारी—गंगापुर का क्या लोगे?'

'जो सब देते हैं, वही आप भी दे दीजिएगा।'

'आखिर कुछ मालूम तो हो?'

'दो रुपये का निरख़ ( निर्ख़ ) है।'

'दो रुपये?—इतना अन्धेर!'

इसी समय जो लोग अभी आये थे, उनमें और इक्केवाले में झगड़ा होने लगा। इक्केवाला बोला—यह अच्छी रही, वहाँ से डेढ़ रुपया तय हुआ, अब यहाँ बीस ही आने दिखाते हैं!

यात्रियों में से एक बोला—हमने पहले ही कह दिया था कि हम बीस आने से एक पैसा अधिक न देंगे।

'मैंने भी तो कहा था कि डेढ़ रुपए से एक पैसा कम न लूँगा।'

'कहा होगा, हमने तो सुना नहीं।'

हाँ सुना नहीं—ऐसी बात आप काहे को सुनेंगे !'

'अच्छा, तुम्हें बीस आने मिलेंगे—लेना हो, तो लो, नहीं अपना रास्ता देखो।'

इक्केवाला, जो हृष्ट-पुष्ट तथा गौरवर्ण था, अकड़ गया। बोला रास्ता कैसे देखें, कोई अन्धेर है! ऐसे रास्ता देखने लगें, तो बस कमाई कर चुके। बायें हाथ से इधर डेढ़ रुपया रख दीजिए, तब आगे बढ़िएगा। वहाँ तो बोले, अच्छा जो तुम्हारा रेट होगा, वह देंगे, अब यहाँ कहते हैं, रास्ता देखो—अच्छे मिले!

हम लोग यह कथोपकथन सुनकर इक्का करना भूल गये और उनकी बातें सुनने लगे। एक यात्री बड़ी गम्भीरता-पूर्वक बोला—देखो जी, यदि तुम भलमनसी से बातें करो, तो दो-चार पैसे हम अधिक दे सकते हैं, ग़रीब आदमी हो; लेकिन जो झगड़ा करोगे, तो एक पैसा न मिलेगा।

इक्केवाला किञ्चित् मुस्कराकर बोला—दो-चार पैसे! ओफ़ ओह—आप तो बड़े दाता मालूम होते हैं! जब चार पैसे देते हो, तो चार आने ही क्यों नहीं देते?

'चार आने हमारे पास नहीं।'

'नहीं हैं—अच्छी बात है; तो जो आपके पास हो वही दे दीजिए—न हो न दीजिए और ज़रूरत हो, तो एकाध रुपया मैं आपको दे सकता हूँ।'

'तुम बेचारे क्या दोगे, चार-चार पैसे के लिए तो तुम झूठ बोलते हो और बेईमानी करते हो।'

'अरे बाबूजी, लाखों रुपए के लिए तो मैंने बेईमानी की नहीं—चार पैसे के लिए बेईमानी करूँगा? बेईमानी करता, तो इस समय इक्का न हाँकता होता—ख़ैर आपको जो देना हो दे दीजिए—नहीं जाइए—मैंने किराया भर पाया।'

उन्होंने बीस आने निकालकर दिये। इक्केवाले ने चुपचाप ले लिये।

उस इक्केवाले का आकार-प्रकार, उसकी बात-चीत से मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य इक्केवालों की तरह यह साधारण आदमी नहीं है। इसमें कुछ विशेषता अवश्य है; अतएव मैंने सोचा कि यदि हो सके, तो गंगाए-

इसी के इक्के पर चलना चाहिए। यह सोचकर मैंने उससे पूछा—गंगा-पुर चलोगे ?

वह बोला—हाँ, हाँ, आइए !

'क्या लोगे ?'

'वही डेढ़ रुपया !'

मैंने सोचा, अन्य इक्केवाले तो दो रुपए माँगते थे, यह डेढ़ रुपया कहता है, आदमी सच्चा मालूम होता है। यह सोचकर मैंने कहा—अच्छी बात है, चलो डेढ़ रुपया देंगे।

हम दोनों सवार होकर चले। थोड़ी दूर चलने पर मैंने पूछा—ये दोनों कौन थे ? इक्केवाले ने कहा—नारायण जाने कौन थे, परदेसी मालूम होते हैं; लेकिन परले-सिरे के झूठे और बेईमान ! चार आने के लिए प्राण तजे दे रहे थे।

मैंने पूछा—तो क्या सचमुच तुमसे डेढ़ रुपया ही तय हुआ था ?

'और नहीं क्या आप झूठ समझते हैं ! बाबूजी, यह पेशा ही बदनाम है, आपका कोई कसूर नहीं ! इक्के, टाँगेवाले सदा झूठे और बेईमान समझे जाते हैं। और होते भी हैं—अधिकतर तो ऐसे ही होते हैं ! इन्हें चाहे रुपए की जगह सवा रुपए दीजिए, तब भी सन्तुष्ट नहीं होते।

मैंने पूछा—तुम कौन जाति हो ?

'मैं ? मैं तो सरकार वैश्य हूँ।'

'अच्छा ! वैश्य होकर इक्का हाँकते हो !'

'क्यों सरकार, इक्का हाँकना कोई बुरा काम तो है नहीं ?'

'नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है कि इक्का हाँकना कोई बुरा काम है। मैंने इसलिए कहा कि वैश्य तो बहुधा व्यापार करते हैं।'

'यह भी तो व्यापार ही है।'

'हाँ, है तो व्यापार ही।'

मैं मन-ही-मन अपनी इस बेतुकी बात पर लज्जित हुआ। अतएव मैंने प्रसंग बदलने के लिए पूछा—कितने दिनों से यह काम करते हो ?

'दो बरस हो गये।'

'इसके पहले क्या करते थे ?'

यह सुनकर इक्केवाला गम्भीर होकर बोला—क्या बताऊँ क्या करता था।

उसकी इस बात से तथा यात्रियों से उसने जो बातें कही थीं, उनका तारतम्य मिलाकर मैंने सोचा—इस व्यक्ति का जीवन रहस्यमय मालूम होता है। यह सोचकर मैंने उससे पूछा—कोई हर्ज न समझो, तो बताओ।

'हर्ज तो कोई नहीं है बाबूजी। पर मेरी बात पर लोगों को विश्वास नहीं होता। इक्केवाले बहुधा परले-सिरे के गप्पी समझे जाते हैं, इसलिए मैं किसी को अपना हाल सुनाता नहीं।'

'खैर मैं उन आदमियों में नहीं हूँ, तुम विश्वास रखो।'

'अच्छी बात है सुनिए—

( २ )

'मैं अगरवाला बनिया हूँ। मेरा नाम श्यामलाल है। मेरा जन्म-स्थान मैनपुरी है। मेरे पिता व्यापार करते थे। जिस समय मेरे पिता की मृत्यु हुई, उस समय मेरी उम्र १५ साल की थी। पिता के मरने पर घर-गृहस्थी का सारा भार मेरे ऊपर पड़ा। मैंने एक वर्ष तक काम-काज चलाया ; पर मुझे व्यापार का अनुभव न था, इस कारण घाटा हुआ और मेरा सब काम बिगड़ गया। अन्त को और कोई उपाय न देख मैंने वहीं एक धनी आदमी के यहाँ नौकरी कर ली। उस समय मेरे परिवार में मेरी माता और एक छोटी बहन थी। जिनके यहाँ मैंने नौकरी की थी, वह थे तो मालदार ; परन्तु बड़े कंजूस थे। ऊपर से देखने में वह एक मामूली हैसियत के आदमी दिखाई पड़ते थे, परन्तु लोग कहते थे कि उनके पास एक लाख के लगभग नक़द रुपया है। उस समय मैंने लोगों की बात पर विश्वास नहीं किया था ; क्योंकि घर की हालत देखने से किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता था कि उनके पास इतना रुपया होगा। उनकी उम्र उस समय चालीस से ऊपर थी। उन्होंने दूसरी शादी की थी और उनकी पत्नी की उम्र बीस वर्ष के लगभग थी। पहली स्त्री से उनके एक लड़का था। वह जवान था और उसका विवाह इत्यादि सब कुछ हो चुका था। उसका नाम शिवचरणलाल था। पहले तो वह अपने पिता के पास ही रहता था ; परन्तु

जब पिता ने दूसरा विवाह किया, तो वह नाराज़ होकर अपनी स्त्री सहित फ़र्रुख़ाबाद चला गया। वहाँ उसने एक दूकान कर ली और वहीं रहने लगा।'

'उन दिनों मुझे कसरत करने का शौक़ था; इसलिए मेरा बदन बहुत अच्छा बना हुआ था। कुछ दिनों पश्चात् मेरी मालकिन मेरी बहुत ख़ातिर करने लगीं। ख़ूब मेवा-मिठाई खिलाती थीं और महीने में दस-बीस रुपये नक़द दे देती थीं। इस कारण दिन बड़ी अच्छी तरह कटने लगे। मैं मालकिन के ख़ातिर करने का असली मतलब उस समय नहीं समझा। मैंने जो समझा, वह यह था कि मेरी सेवा से प्रसन्न होकर तथा मुझे ग़रीब समझकर वह ऐसा करती हैं। आख़िर जब एक दिन उन्होंने मुझे एकान्त में बुलाकर छेड़-छाड़ की, तब मेरी आँखें खुलीं। मुझे आरम्भ से ही इन कामों से नफ़रत थी। मैं इन बातों को जानता भी नहीं था; न कभी ऐसी संगति ही में रहा था, जिसमें इन बातों का ज्ञान प्राप्त होता। मैं उस समय जो जनता था, वह यह था कि आदमी को ख़ूब कसरत करना चाहिए और स्त्रियों से बचना चाहिये! जब मालकिन ने छेड़-छाड़ की, तो मुझे उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होने के बदले भय मालूम हुआ! मेरा कलेजा धड़कने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह एक चुड़ैल है और मुझे भक्षण करना चाहती है।'

इक्केवाले की इस बात पर मेरे साथी मनोहरलाल बहुत हँसे। बोले—तुम तो बिलकुल बुद्धू थे जी!

श्यामलाल बोला—अब जो समझिए; परन्तु बात ऐसी ही थी। ख़ैर, मैं अपना हाथ छुड़ाकर उनके सामने से भाग आया। अब मुझे उनके सामने जाते डर मालूम होने लगा। यही खटका लगा रहता था, कि कहीं किसी दिन फिर न पकड़ लें। तीन-चार दिन बाद वही हुआ। उन्होंने अवसर पाकर फिर मुझे घेरा। उस दिन मैंने उनसे साफ़-साफ कह दिया कि यदि वह ऐसी हरकत करेंगी, तो मैं मालिक से कह दूँगा। बस उसी दिन से मेरी ख़ातिर बन्द हो गई। केवल ख़ातिर बन्द होकर रह जाती, वहाँ तक ग़नीमत थी; परन्तु अब उन्होंने मुझे तंग करना आरम्भ किया। बात-बात पर डाँटती थीं। कभी मालिक से शिकायत कर देती थीं। आख़िर जब एक दिन मालिक ने मुझे मालकिन के कहने से बहुत डाँटा, तो मैंने उन्हें अलग ले जाकर कहा—लालाजी, मेरा

हिसाब कर दीजिए, मैं अब आपके यहाँ नौकरी नहीं करूँगा। लालाजी लाल-पीली आँखें करके बोले—एक तो क़सूर करता है और उस पर हिसाब माँगता है! मुझे भी तेहा आ गया। मैंने कहा—कसूर किस ससुर ने किया है? लालाजी बोले—तो क्या मालकिन झूठ कहती हैं? मैंने कहा—बिल्कुल झूठ! लालाजी ने कहा—तेरे से उनकी शत्रुता है क्या? मैंने कहा—हाँ शत्रुता है। उन्होंने पूछा—क्यों? मैंने कहा—अब आपसे क्या बताऊँ। आप उसे भी झूठ मानेंगे। इसलिए सबसे अच्छी बात यही है, कि मेरा हिसाब कर दीजिए। मेरी बात सुनकर लाला के पेट में खलबली मची। उन्होंने कहा—पहले यह बता कि बात क्या है? मैंने कहा—उसके कहने से कोई फ़ायदा नहीं, आप मेरा हिसाब दे दीजिये, परन्तु लाला मेरे पीछे पड़ गये। मैंने विवश होकर सब हाल बता दिया। मुझे भय था कि लाला को मेरी बात पर विश्वास न होगा। पर ऐसा नहीं हुआ। लाला ने मेरी पीठ पर हाथ फेरकर कहा—शाबाश, श्यामलाल, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम आनन्द से रहो, तुम्हारी तरफ़ कोई आँख उठाकर नहीं देख सकेगा। बस उस दिन से मैं निर्द्वन्द्व हो गया। अब अधिकतर मैं मालिक के पास बाहर ही रहने लगा, भीतर बहुत कम जाता था। उसके पश्चात् भी मालकिन ने मेरे निकलवाने के लिए चेष्टा की; पर लाला ने उनकी एक न सुनी, आख़िर वह भी हारकर बैठ रहीं।

इस प्रकार एक वर्ष और बीता। इस बीच में लाला के एक रिश्तेदार—जो उनके चचेरे भाई होते थे—बहुत आने जाने लगे। उनकी उम्र पचीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। शरीर के मोटे-ताज़े और तन्दुरुस्त आदमी थे। पहले तो मुझे उनका आना-जाना कुछ नहीं खटका; पर जब उनका आना-जाना हद से अधिक बढ़ गया और मैंने देखा कि वह मालकिन के पास घण्टों बैठे रहते हैं, तो मुझे शक हुआ, कि हो-न-हो दाल में कुछ काला अवश्य है। लालाजी अधिकतर दूकान में रहने के कारण यह बात न जानते थे। घर का कहार भी मालकिन से मिला हुआ मालूम होता था; इसलिए वह भी चुप्पी साधे था। एक मैं ही ऐसा था, जिसके द्वारा लाला को यह खबर मिल सकती थी। अन्त में मैंने इस रहस्य का पता लगाने पर कमर बाँधी और एक दिन अपनी आँखों उनकी पापामयी लीला देखी। बस उसी दिन मैंने लाला को ख़बर कर

दी। लाला उस बात को चुपचाप पी गये। आठ-दस रोज़ बाद लाला ने मुझे बुलाकर कहा—श्यामलाल, तेरी बात ठीक निकली, आज मैंने भी देखा। जिस दिन तूने कहा था, उसी दिन से मैं इसकी टोह में था—आज तेरी बात की सत्यता प्रमाणित हो गई। अब बता, क्या करना चाहिए? मैंने कहा—मैं क्या बताऊँ आप जो उचित समझें, करें। लाला ने पूछा—तेरी क्या राय है? मैंने इस उम्र में विवाह करके बड़ी भूल की: पर अब इसका उपाय क्या है? मैंने कहा—अपने भाई साहब का आना-जाना बन्द कर दीजिए, यही उपाय है। और हो ही क्या सकता है? लाला ने सोचकर कहा—हाँ, यही ठीक है। जी में तो आता है कि इस औरत को निकाल बाहर करूँ; पर इसमें बड़ी बदनामी होगी। लोग हँसेंगे कि पहले तो विवाह किया, फिर निकाल दिया।

मैंने कहा—हाँ, यह तो आप का कहना ठीक है। बस उनका आना-जाना बन्द कर दीजिए; अतएव उसी दिन से यह हुकुम लग गया, लाला की अनुपस्थिति में बाहर का कोई आदमी—चाहे रिश्तेदार हो चाहे कोई हो—अन्दर न जाने पावे। और यह काम मेरे सुपुर्द किया गया। उस दिन से मैंने उन्हें नहीं घँसने दिया। इस पर उन्होंने मुझे प्रलोभन भी दिये, धमकी भी दी; पर मैंने एक न सुनी। मालकिन ने भी बहुत कुछ कहा-सुना, खुशामद की; पर मैं ज़रा भी न पसीजा। कहरवा भी बोला—तुमसे क्या मतलब है, जो होता है, होने दो। मैंने उससे कहा—सुनता है बे, तू तो पक्का नमकहराम है, जिसका नमक खाता है, उसी के साथ दग़ा करता है। ख़ैरियत इसी में है कि चुप रह, नहीं तुझे भी निकाल बाहर करूँगा।

यह सुनकर कहारराम चुप हो गये।

थोड़े दिन बाद लाला के उन रिश्तेदार ने आना-जाना बिल्कुल बन्द कर दिया। अब वह लाला के पास भी नहीं आते थे। मैंने भी सोचा, चलो अच्छा हुआ, आँख फूटी पीर गई।

इसके छः महीने बाद एक दिन लाला को हैजा हो गया। मैंने बहुत दौड़-धूप की, इलाज इत्यादि कराया; पर कोई फायदा न हुआ। लालाजी समझ गये कि अन्त समय निकट है; अतएव उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—श्यामलाल, मैं तुझे अपना नौकर नहीं, पुत्र समझता हूँ। इसलिए मैं अपनी कोठरी की

ताली तुझे देता हूँ। मेरे मरने पर ताली मेरे लड़के को देना और जब तक वह आ न जाय, तब तक किसी को कोठरी न खोलने देना। बस तुझसे मैं इतनी अन्तिम सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा—ऐसा ही होगा, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जायँ। पर मैं इसमें अन्तर न पड़ने दूँगा। इतके पश्चात् उन्होंने मुझे पाँच हजार रुपए नक़द दिये और बोले—यह लो, में तुम्हें देता हूँ। मैं लेता न था; पर उन्होंने कहा—तू यदि यह न लेगा, तो मुझे दुःख होगा; अतएव मैंने ले लिये। इसके चार घण्टे बाद उनका देहान्त हो गया। उनके लड़के को उनके मरने के तीन घण्टे पहले तार दे दिया गया था। उनके मरने के पाँच घण्टे बाद वह मैनपुरी पहुँचा था। उनका देहान्त रात को आठ बजे हुआ और वह रात के दो बजे के निकट पहुँचा था। लाला के मरने के बाद उनकी स्त्री ने मुझसे कहा—कोठरी की ताली लाओ। मैंने कहा—ताली तो लाला, शिवचरणलाल के हाथ में देने कह गये हैं, मैं उन्हीं को दूँगा। उन्होंने कहा—अरे मूर्ख, इससे तुझे क्या मिलेगा। कोठरी खोलकर रुपया निकाल ले—मुझे मत दे, तू ले ले, मैं भी तेरे साथ रहूँगी, जहाँ तू ले चलेगा तेरे साथ चलूँगी। मैंने कहा—मुझसे यह नहीं होगा। मैं तुम्हें ले जाकर रखूँगा कहाँ? दूसरे तुम मेरे उस मालिक की स्त्री हो, जो मुझे अपने पुत्र के समान मानता था। मुझसे यह न होगा, कि तुम्हें अपनी स्त्री बनाकर रखूँ।

बाबूजी, एक घण्टे तक उसने मुझे समझाया, रोई भी, हाथ भी जोड़े; परन्तु मैंने एक न मानी। आखिर उसने अन्य उपाय न देख अपने देवर, अर्थात्—उन्हीं को बुलवाया, जिनका आना-जाना मैंने बन्द कराया था। उन्होंने आते ही बड़ा रुआब झाड़ा। मुझे पुलीस में देने की धमकी दी; पर मैं इससे भयभीत न हुआ। तब वह ताला तोड़ने पर आमादा हुए। मैं कोठरी के द्वार पर एक मोटा डण्डा लेकर बैठ गया और मैंने उससे कह दिया कि जो कोई ताला तोड़ने आवेगा, पहले मैं उनका सिर तोड़ूँगा, इसके बाद जो होगा देखा जायगा। बस फिर उनका साहस न हुआ। इसी रगड़े-झगड़े में रात के दो बज गये और शिवचरणलाल आ गये। मैंने उनको ताली दे दी और सब हाल बता दिया।

बाबूजी, जब कोठरी खोली गई, तो उसमें से साठ हजार रुपए नकद निकले। इन रुपयों का हाल लाला के अतिरिक्त और किसी को भी मालूम न था। यदि मैं मालकिन की बात मानकर बीस-पच्चीस हजार रुपये भी निकाल लेता, तो किसी को भी सन्देह न होता; पर मेरे मन में इस बात का विचार एक क्षण के लिए भी पैदा न हुआ। मेरी माँ रोज रामायण पढ़कर मुझे सुनाया करती थी, और मुझे यही समझाया करती थी कि—बेटा, पाप और बेईमानी से सदा बचना, इससे मुझे कभी दुःख न होगा। उनकी यह बात मेरे जी में बसी हुई थी और इसीलिए मैं बच गया। उसके बाद शिवचरणलाल ने भी मुझे हजार रुपया दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि—तुम मेरे पास रहो; पर लाला के मरने से और जो अनुभव मुझे हुए थे, उनके कारण मैंने उनके यहाँ रहना उचित न समझा। लाला की तेरही होने के बाद मैंने उनकी नौकरी छोड़ दी। छः हजार रुपये में से दो हजार अपने ब्याह में खर्च किए। एक हजार लगाकर एक दुकान की और एक हजार बचाकर रखा; पर दुकान में फिर घाटा हुआ। तब मैंने मैनपुरी छोड दी और इधर चला आया। नौकरी करने की इच्छा नहीं थी; इसलिए मैंने इक्का-घोड़ा खरीद लिया और किराये पर चलाने लगा—तब से बराबर यही काम कर रहा हूँ। इसमें मुझे खाने भर को मिल जाता है। अपने आनन्द से रहता हूँ। न किसी के लेने में हूँ, न देने में। अब बताइए, वह बाबू कहते थे कि चार आने पैसे के लिए मैं बेईमानी करता हूँ। अब मैं उनसे क्या कहता। यह तो दुनिया है, जो जिसकी समझ में आता है, वह कहता है। मैं भी सब सुन लेता हूँ। इक्केवाले बदनाम हैं; इसलिए मुझे भी ये बातें सुननी पड़ती हैं।'

श्यामलाल की आत्म-कहानी सुनकर मैं कुछ देर तक स्तब्ध बैठा रहा। इसके पश्चात् मैंने कहा—भाई तुम तो दर्शनीय आदमी हो, तुम्हारे तो चरण छूने को जी चाहता है।

श्यामलाल हँसकर बोला—अजी बाबूजी, क्यों काँटों में घसीटते हो। मेरे चरण आप छुएँ—राम राम! मैं कोई साधु थोड़ा ही हूँ।

मैंने कहा—और साधु कैसे होते हैं? उनके कोई सुर्खाब का पर तो लगा होता नहीं। सच्चे साधु तो तुम्हीं हो। यह सुनकर श्यामलाल हँसने लगा। इसी

समय गंगापुर आ गया और हम लोग इक्के से उतरकर अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर चल दिये।

रास्ते में मैंने मनोहरलाल से कहा—इस संसार में अनेकों लाल गुदड़ी में छिपे पड़े हैं। उन्हें कोई जानता तक नहीं।

मनोहरलाल—जी हाँ! और नामधारी ढोंगी महात्मा ईश्वर की तरह पूजे जाते हैं।

बात बहुत पुरानी हो गई है, पता नहीं महात्मा श्यामलाल अब भी जीवित हैं या नहीं; परन्तु अब भी जब कभी उनका स्मरण हो आता है, तो मैं उनकी काल्पनिक मूर्ति के चरणों में अपना मस्तक नत कर देता हूँ।

---

# आत्माभिमान

[ १ ]

'रघुनन्दन!'

'हुजूर!'

'दूसरी बोतल खोलो।'

सन्ध्या के सात बज चुके हैं—ज्येष्ठ मास की लू शीतल, मन्द समीर का रूप धारण कर रही है। एक विशाल तथा सुन्दर भवन के सम्मुख विस्तृत प्रांगण में, अनेक रंग विरंगे तथा सुगन्धित पुष्पों से लदे हुए मनोहर वृक्षों से वेष्टित पक्के चबूतरे पर, पाँच युवक कुर्सियों पर बैठे हैं। बीच में एक गोल मेज़ रखी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख एक-एक शीशे का गिलास और एक-एक तश्तरी रखी हुई है। प्रत्येक तश्तरी में कुछ नमकीन खाद्य-पदार्थ रखा हुआ है और मेज़ के बीच में एक विदेशी शराब की बोतल तथा कुछ सोडे की बोतलें रखी हैं। सब लोग शराब पी रहे हैं, तथा तश्तरी का खाद्य-पदार्थ खा रहे हैं। हठात् एक युवक ने, जो गृह-स्वामी जान पड़ता था, रघुनन्दन से उपर्युक्त वाक्य कहा।

रघुनन्दन ने पूछा—कौन सी बोतल खोलूँ?

युवक ने अन्य उपस्थित युवकों की ओर देखकर पूछा—क्यों यारो, इस बार क्या चीज़ खोली जाय ?

एक युवक ने रघुनन्दन से पूछा—क्या-क्या है तुम्हारे पास ? जल्दी बोलो ?

रघुनन्दन—ह्वाइट हार्स आप पी ही रहे हैं, इसके अतिरिक्त डिवार्स है, ब्लेक एण्ड ह्वाइट है, किंग जार्ज है।

दूसरा बोला—वेल, तो तुम चितकबरी लाओ !

रघुनन्दन—बहुत अच्छा हुजूर !

यह कहकर रघुनन्दन चला गया। पहला युवक बोला—यह चितकबरी कौन चीज़ है म्याँ ?

दूसरा—देखो अभी आती है। रघुनन्दन समझ गया होगा, तो लावेगा ;

तीसरा—गया तो वह इसी तरह है, मानो समझ गया।

चौथा—समझा तो क्या ख़ाक होगा ! जब हमारी समझ में नहीं आया, तो वह क्या समझा होगा—हम लोगों से अधिक बुद्धिमान् थोड़ा ही है।

गृह-स्वामी ने कहा—समझा न होता, तो 'बहुत अच्छा' कभी न कहता।

तीसरा—पहले यह बताइए, आप समझे ?

गृह-स्वामी—मैं भी नहीं समझा।

दूसरा—तो आपका नौकर आपसे अधिक बुद्धिमान् है ?

गृह-स्वामी—अधिक और न्यून तो मैं नहीं जानता ; पर इसमें सन्देह नहीं, रघुनन्दन है समझदार। इशारों पर काम करता है।

चौथा—इन कामों के लिए ऐसे ही नौकर की आवश्यकता है वामड़ का काम नहीं—ज़रा देर में सारा मज़ा किरकिरा कर दें।

दूसरा—अच्छा, इस समय जो वह ठीक चीज़ न लाया, तो मैं उसे निश्चय चपतियाऊँगा।

गृह-स्वामी—यह असम्भव है कि रघुनन्दन से भूल हो।

यही बातें हो रही थीं कि रघुनन्दन एक बोतल लिये आ पहुँचा। बोतल उसने मेज़ पर रख दी और कहा—बर्फ तोड़ूँ ?

दूसरा—वेल, तुम क्या लाया ?

रघुनन्दन—ब्लेक एण्ड ह्वाइट !

दूसरा—राइट! तुम बहुत समझदार आदमी हो।

तीसरा—ओफ़ ओह! चितकबरी का मतलब ब्लेक एण्ड ह्वाइट था—ख़ूब।

चौथा—इतनी सीधी बात, और हम लोग नहीं समझे। अच्छा बर्फ़ और सोडा लाओ।

रघुनन्दन सब गिलासों में बर्फ़ तोड़-तोड़कर डालने लगा। एक ने बोतल उठाकर सब गिलासों में थोड़ी-थोड़ी मदिरा डाली और सोडा मिला दिया।

फिर सब लोग चुसकी लगाने लगे। रघुनन्दन कुछ दूर पर बैठ गया।

दूसरा—भई, आज तो तुम्हारे रघुनन्दन ने इनाम का काम किया है।

गृह-स्वामी—अजी, यह तो एक बहुत साधारण बात थी—आप इसे इतना महत्व दिये दे रहे हैं। (धीमे स्वर में) रघुनन्दन बैठा है, उसके सामने ऐसी ऐसी बातें मत करो। नौकरों के मुँह पर उनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। इससे उनके मिजाज सातवें आसमान पर पहुँच जाते हैं।

(रघुनन्दन से) रघुनन्दन!

रघुनन्दन—हुजूर!

गृह-स्वामी—अब हमें कुछ नहीं चाहिए, तुम जाओ।

रघुनन्दन—बहुत अच्छा।

रघुनन्दन चला गया।

गृह-स्वामी—अब जो जी चाहे, बकिए। आप लोग हैं नशे में, उसके सामने कुछ अंट-संट बकने लगते। और कुछ नहीं, तो उसकी तारीफ़ों के पुल ही बाँधने लगे।

दूसरा—उसने तारीफ़ का काम नहीं किया? हमने जो कुछ फर्माया उसने लाकर हाजिर किया।

तीसरा—तारीफ़ का काम किया, तो कुछ जेब से निकालकर देते—कोरी बातें बनाने से क्या होता है।

दूसरा—चुप रहो यू बेगर! जेब से निकालकर क्यों देते, क्या यह तुम्हारी तरह बेगर (भिक्षुक) है? एक रईस का नौकर है। यह जो सामने श्याम-किशोर बैठा है—इसे तुम क्या समझते हो—यह रईस का बच्चा है—कोई मामूली आदमी है? रघुनन्दन इसका नौकर है, मामूली आदमी का नौकर नहीं

है। समझा? हमने चितकबरी कहा—वह समझ गया कि चितकबरी ब्लेक एण्ड ह्वाइट को बोलता है। ब्लेक एण्ड ह्वाइट—काला और सफेद—दोनों मिलकर चितकबरी हो गया। हर एक आदमी ऐसी महीन बात नहीं समझने सकता!

चौथा व्यक्ति मुस्कराकर अन्य व्यक्तियों से बोला—इनकी तो खबर आ गई—अब इन्हें न दीजिएगा।

श्यामकिशोर—हाँ, यह तो बहकने लगे।

दूसरा—चुप रहो यू काला आदमी—हम लोग कभी बहकने नहीं सकता। अभी हम एक बोतल और पीने सकता है।

तीसरा—अच्छा चुप-चाप बैठे रहो, अधिक बर्राओ नहीं।

पहला—(गाकर) देखो सखी कन्हैया रोके ठाढ़ो है गैल—ज़रा सुनिएगा—हे सखी देखो कन्हैया गैल रोके ठाढ़ो है—अहा हा—ज़रा इस बात को देखिए—रोके ठाढ़ो है गैल! बनारस की बाई इस तरह बताती है—ज़रा देखिए।

इतना कहकर उन महाशय ने गाना तथा बताना आरम्भ किया।

तीसरे व्यक्ति ने श्यामकिशोर के कान में कहा—यह भी चले—अब बोतल हटवा दो, नहीं ठेलों की आवश्यकता पड़ेगी।

श्यामकिशोर ने पुकारा—रघुनन्दन!

कुछ क्षणों में रघुनन्दन आ गया। उसे देखते ही दूसरे महाशय बोले—रघुनन्दन, तुमने किस माफिक हमारा मतलब समझ लिया था?

रघुनन्दन बोला—वह तो साफ बात थी, कोई टेढ़ी बात नहीं।

दूसरा—देखा, रघुनन्दन क्या बात बोलता, टेढ़ी बात नहीं थी। वाह-वा! क्या कही है।

श्यामकिशोर रघुनन्दन से बोले—यह सब सामान हटा ले जाओ।

रघुनन्दन 'बहुत अच्छा' कहकर सामान हटाने लगा।

पहला—रघुनन्दन यार! क्यों जले पर नमक डालते हो—बोतल हटा ले जाओगे, तो तुम्हारे सिर की क़सम, क़त्ल हो जायँगे (गाते हुए) 'बोतलिया

हटाओ न यार, नहीं हम मर जइबे।' वाह वा—देखिए यह गाना अभी-अभी बनाया है। ( पुनः गाने लगे। )

श्यामकिशोर—चुप रह बदतमीज, क्या वाही-तबाही बकता है!

पहला—बदतमीज! हम बदतमीज हैं! ( अन्य युवकों से ) क्यों भाई, हम बदतमीज़? तुम्हें अपने बाप के सिर की कसम, सचमुच बताना, कुछ लगी-लिपटी न रखना। क्यों भइया रघुनन्दन, हम बदतमीज़ हैं?

रघुनन्दन ने इसका कोई उत्तर न दिया।

उन महाशय ने पुनः हाँक लगाई—यारो, तुम्हारे हाथ जोड़ते हैं, जरा बता देते।

श्यामकिशोर—यार, तुम तो बिलकुल कोरी-चमारों की-सी बात करते हो—राम-राम! इसी लिए शराब बदनाम है।

वह महाशय बोले—कोरी-चमार तू और तेरा बाप!

चौथा—हाय हाय, यह क्या वाहियात बात है। बड़ी लज्जा की बात है चन्दनप्रसाद!

चन्दनप्रसाद गाली देते हुए बोला—जो हमें कहेगा, वह सुनेगा भी। हम क्या किसी ससुरे के दबैल हैं? यह साला अपने को समझता क्या है?

श्यामकिशोर—जान पड़ता है, अब तुम मार खाओगे। ( चौथे व्यक्ति से ) रामचन्द्र, लगाना इसके दो-चार हाथ!

चन्दनप्रसाद—खून कर डालूँगा खून, यह याद रखना!

रामचन्द्र—अच्छा चुप रहो, बड़े तीसमारखाँ के दुम बने हो।

दूसरा—यह क्या गड़बड़ मचा रखी है? तुम काला आदमी बड़ा गोलमाल करता है।

रघुनन्दन ने यह दशा देखकर श्यामकिशोर के कान में कहा—इन सबको बिदा कीजिए। इस समय कोई अपने आपे में नहीं है। ऐसा न हो कि बात बढ़ जाय, तो मुफ्त में आपस में रंज हो जाय।

श्यामकिशोर—ठीक कहते हो, अच्छा, मोटर मँगवा लो, उसी पर लादकर सबको भेज दें।

इस समय श्यामकिशोर तथा रामचन्द्र के अतिरिक्त अन्य सब आपे से

बाहर थे। कोई गा रहा था, कोई चुपचाप आँखें बन्द किये बैठा था। चन्दन-प्रसाद उसी प्रकार बक रहा था। थोड़ी देर में मोटर आ गई। रघुनन्दन ने नम्रतापूर्वक सबको मोटर में बिठाया और ड्राइवर से कह दिया कि सबको उनके द्वार पर छोड़ आवे।

[ २ ]

उपर्युक्त घटना के तीन मास पश्चात् एक दिन रघुनन्दन अन्य नौकरों से बैठा बातें कर रहा था। वह कह रहा था—भाई, अब इस घर में हमारा गुज़ारा होना कठिन है।

'क्यों ?'

रघुनन्दन—बाबूजी की आदतें दिन-दिन बिगड़ती जाती हैं।

'यह तो भइया तुमने ठीक कहा—आदत तो बहुत खराब हो गई है।'

रघुनन्दन—अभी परसों की बात है। नशे में चूर थे, मुझसे शराब माँगने लगे। मेरे मुँह से निकल गया—अब मत पीजिए। बस, इतना कहना था कि लगे गालियाँ देने। सो भैया नन्दलाल, और हम सब सह सकते हैं; पर गाली नहीं सह सकते।

नन्दलाल—ठीक तो है। भइया, जो यही हाल रहा, तो दो-ही चार बरस में सब सफ़ाई हो जायगी। तुम देख लेना। क्यों भइया मनराखन, झूठ कहता हूँ ?

मनराखन—नहीं, इसमें झूठ काहे का।

रघुनन्दन—चाहे जो हो, हमसे क्या—हम तो कमर कसे बैठे हैं। अबकी जिस दिन गाली-वाली दी, उसी दिन इस्तीफा है।

नन्दलाल—यह हाल रहा, तो सभी इस्तीफा दे देंगे; रहेगा कौन! आबरू देकर कौन नौकरी करेगा ?

मनराखन—यही बात है। अब बहुत पीने लगे हैं। पहले इत्ती नहीं पीते थे।

रघुनन्दन—कुछ ठिकाना है ! दिन-भर में तीन-तीन बोतलें खाली कर देते हैं।

मनराखन—तीन बोतलें भला कित्ते की आती होंगी ?

रघुनन्दन—पाँच-पाँच रुपये की, छः-छः रुपये की एक बोतल आती है।

कोई-कोई साढ़े सात तक की आती है। पन्द्रह-बीस रुपये की शराब रोज़ पी जाते हैं।

मनराखन—गजब रे गजब, कुछ ठिकाना है! जित्ता हम लोग महीना-भर में कमाते हैं, उत्ता खाली शराब में उड़ जाता है।

नन्दलाल—तारीफ़ तो हम रघुनन्दन की करेंगे। सब कुछ हाथ में होते हुए भी रघुनन्दन ने आज तक नहीं छुई।

रघुनन्दन—एक-से-एक बढ़िया शराब मेरे हाथ में रहती है। चाहूँ, तो एक बोतल रोज़ पी सकता हूँ; पर आज तक एक बूँद भी चखी हो, तो क़सम ले लो।

मनराखन—हम क्या जानते नहीं भइया। हम लोगों ने जब माँगी, तब तुमने दे दी; पर खुद नहीं पी।

रघुनन्दन—भइया, इन लोगों का हाल देख-देखकर मुझे शराब से घृणा हो गई है। इसे पीकर आदमी, आदमी नहीं रहता। इतने समझदार, पढ़े-लिखे आदमी बाबू के पास आते हैं; पर जब शराब पी लेते हैं, तो कोरी-चमारों से गये-बीते हो जाते हैं। बड़ी बुरी चीज़ है—भगवान बचावें।

मनराखन—बुरी चीज़ तो है।

नन्दलाल—नशा ख़राब।

रघुनन्दन—एक बात और है; पर किसी से कहना नहीं।

मनराखन—नहीं भइया, ऐसा हो सकता है।

रघुनन्दन—अब कोकीन भी खाने लगे हैं।

नन्दलाल—सच?

रघुनन्दन—भगवान जाने। अब रियासत खिसकने ही वाली है। कोकीन का कोई परमान नहीं है। कोकीन में आदमी चुटकियों में बिलटता है। पचास-पचास रुपए की कोकीन रोज़ ख़र्च हो जाती है।

मनराखन—नहीं?

रघुनन्दन—तुम मानते नहीं!

नन्दलाल—बाप रे बाप! तब तो यह रियासत काहे को रहेगी?

रघुनन्दन—सोई तो कह रहा हूँ।

मनराखन—अपने लोगों से क्या, जब तक यहाँ निभती है, निभाते हैं, जब न निभेगी, तो दूसरा द्वार देखेंगे।

रघुनन्दन—हम तो अब भइया नौकरी नहीं करेंगे।

नन्दलाल—नौकरी नहीं करोगे, तो करोगे क्या?

रघुनन्दन—हमारी नानी के पास कुछ रुपया है, वह सब हमीं को मिलनेवाला है। सो हम तो आनन्द से कोई दूकान-उकान कर लेंगे। नौकरी ससुरी में किचकिच रहती है।

मनराखन—'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'—पराई ताबेदारी में सुख नहीं मिलता।

नन्दलाल—भइया तुम्हारे पास रुपया है, तुम दुकान कर लोगे। हम गरीब आदमी रुपया कहाँ से लावें। हमें तो नौकरी ही करनी है।

मनराखन—यही बात है भइया। अपने लोगों का गुजारा बिना नौकरी के नहीं हो सकता।

रघुनन्दन—तीन-चार हज़ार रुपया है हमारी नानी के पास, एक हज़ार रुपया हमारे पास हो जायगा। सब ज़ोर-बटोर के कोई दूकान करेंगे।

मनराखन—तुम्हारे पास हज़ार रुपया कहाँ से आया!

रघुनन्दन—सब यहीं से मिला है। बाबू देते रहे हैं। कभी दस रुपए उठाकर दे दिये, कभी पाँच रुपए। बाबूजी के यार-दोस्त से भी मिलता रहता है। इसी तरह जुट गया है।

नन्दलाल—बाबूजी के खास नौकर हैं। इनको न मिलेगा, तो क्या हमें-तुम्हें मिलेगा? बाबूजी का हाथ बहुत खुला हुआ है।

रघुनन्दन—आदमी बड़ा दाता है, इसमें सन्देह नहीं; मगर कुसंगत में पड़ गये हैं। भइया, हमें तो बड़ा दुख होता है। ऐसा आदमी इस तरह बरबाद हो रहा है, पर क्या करें, आख़िर नौकर ही ठहरे। अधिक कुछ कहें तो निकाल बाहर किये जायँ। सिर पर कोई बड़ा-बूढ़ा नहीं है; इसलिए और भी मनमानी करते हैं। और कोई जो ज़रा भी ज़बान चलाता, तो उसी समय नौकरी छोड़ देते; पर बाबूजी का हमारे ऊपर बड़ा एहसान है। और, सच बात यह है, कि उनके अच्छे स्वभाव के कारन उनसे कुछ स्नेह भी हो गया है,

इसलिए उनकी सब सह लेते हैं। नहीं तो हम ठाकुर आदमी ठहरे, किसी की आधी बात नहीं सह सकते ; पर आख़िर कहाँ तक सहेंगे। दूसरे, इनकी जो बरबादी हो रही है, वह हम नहीं देख सकते ; इसलिए नौकरी छोड़नी ही पड़ेगी।

नंदलाल—अब शाम हुई है, सब लोग जमा होनेवाले हैं।

रघुनन्दन—यही तो खराबी है। अगर बाबू अकेले खायँ-पीयें, तो कोई बड़ी बात नहीं। अधिक-से-अधिक दस-बीस रुपए रोज़ का ख़र्च पड़े ; पर ये यार-दोस्त दिवाला निकाले दे रहे हैं। वह देखो, आने लगे। चलें अब हमारी पुकार होने ही वाली है।

रघुनन्दन उठकर वहाँ से चला गया। क्रमशः श्यामकिशोर के सब मित्र लोग जमा हो गये और ढलने लगी।

इतने में चन्दनप्रसाद ने कहा---यार श्यामकिशोर, आज तो बड़ा अच्छा मौसम है। काली घटाएँ घिरी हैं, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है। आज जो एक काम करो, तो बड़ा अच्छा हो।

श्यामकिशोर—कहो, इस समय तबीयत मस्त है; जो कहो सो कर सकता हूँ।

चन्दनप्रसाद—यार, आज तो मुजरा सुनाओ।

रामचन्द्र—भाई चंदन, इस समय तो तुमने लाख रुपए की बात कही।

इसी प्रकार सबने चंदनप्रसाद के प्रस्ताव का समर्थन तथा अनुमोदन किया।

श्यामकिशोर—तो किसे बुलवाऊँ? मैं तो किसी को जानता-वानता नहीं।

चंदनप्रसाद—...बाई को बुलाओ। वह प्रत्येक बात में इस समय शहर के ऊपर है।

रामचंद्र—दो घण्टे का क्या लेगी?

चंदनप्रसाद—लगे वही गदाईपन की बातचीत करने! किसी कंगाल के यहाँ बैठे हो? कहने लगे, क्या लेगी? जो लेगी सो दे दिया जायगा।

श्यामकिशोर—अजी, इसकी क्या परवाह है। जो माँगेगी, वह दिया जायगा। रुपए की क्या कमी है?

रामचंद्र—अच्छी बात है, बुलवा लो।

श्यामकिशोर ने पुकारा—रघुनन्दन!

रघुनन्दन आकर उपस्थित हो गया।

श्यामकिशोर—देखो, मोटर लेकर जाओ और...बाई को साथ ले आओ। कहना, दो घण्टे मुजरा होगा। यह भी कह देना कि जो माँगेगी, वह दिया जायगा।

चन्दनप्रसाद—अजी, आपका नाम सुनकर वह चूँ न करेगी, चुपचाप चली आयेगी—आप कुछ ऐसे-वैसे आदमी हैं!

रघुनन्दन ने नम्रतापूर्वक कहा—इसके लिए आप मुझे न भेजिए, किसी दूसरे को भेज दीजिए।

श्यामकिशोर ने भृकुटी चढ़ाकर कहा—क्यों?

रघुनन्दन—बात यह है कि मैंने आज तक कभी यह काम किया नहीं और न मैं करना चाहता हूँ।

श्यामकिशोर क्रुद्ध होकर बोले—तुम हमारे नौकर हो; हम जो कहेंगे, तुम्हें करना पड़ेगा।

रघुनन्दन—यह काम तो सरकार, मुझसे न होगा।

चन्दनप्रसाद नशे में बोल उठे—बड़ा गुस्ताख़ आदमी है। ऐसे आदमी को ठोकर मारकर निकाल देना चाहिए।

रघुनन्दन बोला—आप चुप बैठे रहिए, आप मेरे और मेरे मालिक के बीच में मत बोलिए। वह मेरे मालिक हैं, आपके बोलने का काम नहीं है।

श्यामकिशोर—क्यों बे सुअर, मेरे मित्रों से ऐसी बातचीत!

रघुनंदन—ये आपके मित्र हैं? ये मित्र नहीं, शत्रु हैं। ये आपको मिट्टी में मिला देंगे।

रामचन्द्र एकदम खड़े हो गये और बोले—क्यों बे हरामज़ादे! बदमाश! हम लोग...

रामचन्द्र इतना ही कह पाये थे, कि रघुनन्दन ने लपककर एक घूँसा मुँह पर जड़ा। रामचन्द्र भड़भड़ाकर गिर पड़े और उनके मुख से रक्त निकलने लगा।

यह देखते ही सबका नशा हिरन हो गया। श्यामकिशोर मारे क्रोध के थर-थर काँपने लगे। उन्होंने पुकारा—नन्दलाल! मनराखन!

दोनों व्यक्ति उपस्थित हुए। श्यामकिशोर ने कहा—इस हरामज़ादे को जूते मारकर हमारी कोठी से निकाल दो; आज से यह हमारा नौकर नहीं रहा।

रघुनन्दन—मैं अपने आप भाग जाता हूँ। मुझे आपकी नौकरी नहीं करनी है। मुझसे आपकी यह दुर्दशा नहीं देखी जाती; परन्तु चलते समय इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आप अभी सँभल जायँ, तो अच्छा है।

यह कहकर रघुनन्दन वहाँ से चला गया।

[ ३ ]

रघुनन्दन को बाबू श्यामकिशोर की नौकरी छोड़े हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गए। रघुनन्दन नौकरी छोड़कर लखनऊ से कानपुर चला आया। कानपुर में उसने एक छोटी-सी कपड़े की दूकान कर ली। दूकान करने के एक वर्ष पश्चात् ही योरोपीय महासमर छिड़ गया। इस अवसर पर रघुनन्दन ने सट्टे का काम भी किया। इस काम में उसका भाग्य ऐसा चमका कि दो वर्ष के अन्दर ही उसने एक लाख रुपए के लगभग कमा लिये। अब आज-कल उसकी कपड़े की आढ़त की एक बहुत बड़ी दूकान है। दूकान का नाम 'ठाकुर रघुनन्दनसिंह एण्ड संस पड़ता है।

इधर इन पाँच वर्षों के अन्दर श्यामकिशोर का सर्वस्व मदिरा, कोकीन तथा वेश्याराधन में समाप्त हो गया। अन्त में उनके लिए लखनऊ में रहना असम्भव हो गया। जिस नगर में रईसाना ठाठ में रहे, उसी नगर में दरिद्र बनकर कैसे रहें? इसी कारण उन्होंने भी लखनऊ छोड़ दिया और कानपुर चले आये।

कुछ थोड़ा रुपया उनके पास था, वह बैठे खाते रहे और नौकरी की खोज करते रहे। अन्त में वह रुपया भी समाप्त होने आ गया और नौकरी का ठिकाना न लगा।

एक दिन एक व्यक्ति ने, जो श्यामकिशोर ही के पड़ोस में रहता था, उनसे बताया कि एक बज़ाजे की आढ़त में एक क्लर्क का स्थान रिक्त हुआ है। श्यामकिशोर ने उससे कहा—तो भाई हमें वह दूकान बता दो।

उसने कहा—मैं ग्यारह बजे दूकान बताऊँगा। मेरे साथ चले चलना, मैं दूकान बता दूँगा।

ठीक ग्यारह बजे श्यामकिशोर उनके साथ चले। एक स्थान पर पहुँचकर उस व्यक्ति ने कहा—यह दूकान है। इस फाटक के अन्दर चले जाओ। सामने ही दफ्तर है, वहाँ पूछ लेना।

यह कहकर वह अपनी दूकान की ओर चला गया। श्यामकिशोर डरते-सकुचाते हुए, अताए हुए आफ़िस में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने एक व्यक्ति से, जो बड़ी शान से मेज़ कुर्सी लगाये बैठा था, पूछा—क्यों साहब, यहाँ कोई क्लर्क की जगह ख़ाली है?

उस व्यक्ति ने श्यामकिशोर को सिर से पैर तक देखकर कहा—हाँ ख़ाली तो है, कहिए!

श्यामकिशोर—यदि आप उचित समझें, तो वह पोस्ट मुझे दे दें।

वह व्यक्ति—आप अँगरेजी जानते हैं?

श्यामकिशोर—हाँ, जानता हूँ।

वह व्यक्ति—पहले कहीं काम कर चुके हैं?

श्यामकिशोर—नहीं, पहले तो कहीं काम नहीं किया।

वह व्यक्ति—आख़िर अभी तक आप क्या करते रहे?

श्यामकिशोर ने सिर झुका लिया। उनके अन्तस्तल से एक दीर्घ निःश्वास निकला। उन्होंने धीमे स्वर से कहा—क्या बताऊँ, क्या करता रहा; पर इतना मैं कह सकता हूँ कि आप दो-चार दिन मेरा काम देख लीजिए। यदि काम सन्तोषजनक हो, तो रखिएगा, नहीं, जवाब दे दीजिएगा।

वह व्यक्ति—जब तक हमें यह ज्ञात न हो जाय कि आप पहले कहीं काम कर चुके हैं, तब तक हम आपको जगह नहीं दे सकते। हमें अनुभवी तथा विश्वास-पात्र आदमी चाहिए। आप यहाँ तक तो बताते नहीं कि अभी तक आपने कहाँ क्या काम किया है, तब हम आप पर कैसे विश्वास कर लें?

श्यामकिशोर—दो-चार दिन...

वह व्यक्ति बात काटकर बोला—यह कुछ नहीं।

यह कहकर वह काम में लग गया।

श्यामकिशोर अप्रतिभ होकर कुछ क्षण खड़े रहे, तत्पश्चात् चलने के लिए उद्यत हुए। उसी समय बगलवाले एक कमरे से, जिसके द्वार पर चिक पड़ी थी, एक चपरासी निकला। उसने उस व्यक्ति से कहा—बाबूजी, आपको मालिक बुला रहे हैं। यह सुनते ही वह व्यक्ति घबराकर उठा और कमरे के भीतर चला गया। चपरासी ने श्यामकिशोर की ओर देखकर पूछा—आप कैसे खड़े हैं?

श्यामकिशोर—मैंने सुना था कि यहाँ कोई क्लर्क की जगह खाली है, सो उसी के लिए आया था ; परन्तु बाबूजी ने जवाब दे दिया।

चपरासी श्यामकिशोर को ध्यानपूर्वक देखकर बोला—आप मालिक से मिलिए, तो काम होगा। इनसे आपका काम नहीं होगा। यह तो सबको जवाब दे देते हैं। अपने किसी रिश्तेदार को लाकर रखेंगे। बड़े हजरत हैं।

श्यामकिशोर—मालिक से भेंट कैसे होगी ?

चपरासी—आप खड़े रहिए, जब बाबू बाहर आ जायँगे, तो मैं आपको ले चलूँगा।

श्यामकिशोर ने चपरासी की ओर कृतज्ञता-पूर्ण नेत्रों से देखा।

थोड़ी देर में बाबूजी बाहर आ गये और इधर-उधर कुछ काग़ज ढूँढ़ने लगे। चपरासी कमरे के अन्दर चला गया और दो-चार क्षण पश्चात् बाहर आकर बोला—चलिए। श्यामकिशोर चपरासी के पीछे चले।

कमरे के अन्दर प्रविष्ट होकर उन्होंने देखा, कमरा बहुत सजा हुआ है। एक ओर एक बड़ी और सुन्दर मेज लगी हुई है, उस मेज के पास एक बढ़िया रिवा-ल्विंग कुर्सी पर एक व्यक्ति सिर झुकाये बैठा है। श्यामकिशोर की आहट पाकर उसने सिर उठाया। उसका मुख देखते ही श्यामकिशोर के मुख से निकला—कौन रघुनन्दन !—इतना कहकर उन्होंने अपने मुँह पर हाथ रख लिया। उधर वह व्यक्ति भी श्यामकिशोर की बात सुनकर एकदम खड़ा हो गया। उसके मुख से निकला—कौन, बाबूजी !

श्यामकिशोर का सिर चकराने लगा। उन्होंने मेज का सहारा लेकर अपने को सँभाला।

रघुनन्दन ने श्यामकिशोर का हाथ पकड़कर उन्हें अपनी कुर्सी पर बिठाया और स्वयं मेज पर हाथ रखकर सामने खड़ा हो गया। बोला—सरकार आप यहाँ कैसे ?

'सरकार, आप यहाँ कैसे'—इन शब्दों ने श्यामकिशोर के कलेजे पर बाण का काम किया, उसकी चोट से वह तिलमिला गये।

श्यामकिशोर के साथ अपने स्वामी का यह व्यवहार देखकर चपरासी अवाक् खड़ा रहा। उसकी ओर देखकर रघुनन्दनसिंह ने कहा—तुम बाहर जाओ।

उसके बाहर जाते ही बाबू साहब कागज लिये भीतर आये और बोले—लीजिए, वह कागज मिल गया। उनकी ओर देखकर रघुनन्दनसिंह ने कहा—इस समय ले जाइए ; जब आवश्यकता होगी तो मैं बुला लूँगा। वह भी श्यामकिशोर को चकित नेत्रों से देखते हुए बाहर हो गये। इतनी देर में श्यामकिशोर ने अपने को सँभाल लिया। उन्होंने कहा—रघुनंदनसिंह, तुम्हारा उपदेश मैंने न माना, उसी के परिणाम-स्वरूप आज मैं तुम्हारे यहाँ क्लर्की करने के लिए आया था। मुझे पता लगा था कि यहाँ एक जगह ख़ाली है ; परन्तु मुझे स्वप्न में भी यह ख़बर न थी कि यह तुम्हारा ही फ़र्म है। यदि ऐसा जानता, तो मैं कदापि न आता!

रघुनंदनसिंह मृदु-स्वर में बोले—क्यों? क्या अभी तक आप मेरे उपर रुष्ट हैं? मैंने उस दिन रामचंद्र को मारा था, आज उस घटना को पाँच वर्ष से अधिक व्यतीत हो गये। यह मेरा अपराध था। दूसरा अपराध यह था कि मैंने आपकी आज्ञा का पालन नहीं किया था ; परंतु वे दोनों बातें मैंने आपके भले के लिए ही की थीं।

श्यामकिशोर बोले—क्यों जले पर नमक छिड़कते हो रघुनंदन, ( उठकर ) अच्छा, अब मैं जाऊँगा।

रघुनंदनसिंह श्यामकिशोर का हाथ पकड़कर बोला—जाइएगा कहाँ? यहाँ आकर अब आप जा कहाँ सकते हैं? यह जो कुछ है, सब आपका है। मैं उसी प्रकार आपका दास हूँ ; आज से आप इस फ़र्म के मालिक और मैं आपका नौकर।

श्यामकिशोर रघुनंदनसिंह की ओर इस प्रकार कातर-दृष्टि से देखने लगे, मानों रघुनंदनसिंह उनके साथ परिहास करके अपने अपमान का प्रतिशोध ले रहा है। रघुनंदनसिंह उनका तात्पर्य समझकर बोला—आप यह मत समझिए, कि मैं आपके साथ उपहास कर रहा हूँ। यह बिलकुल सच्ची बात है। ईश्वर की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, शुद्ध हृदय से कह रहा हूँ।

श्यामकिशोर स्तम्भित हो गये। उन्होंने अपने मन में सोचा—रघुनंदन या तो पागल है या देवता। प्रकट में उन्होंने कहा—अच्छा, आज तो मुझे जाने दो। कल मैं फिर मिलूँगा, उस समय बात-चीत होगी।

रघुनंदनसिंह—आखिर आप जायँगे कहाँ ?

श्यामकिशोर—कहीं नहीं, घर जाऊँगा।

रघुनन्दनसिंह—मैं भी आपके साथ चलूँगा।

श्यामकिशोर—क्यों ?

रघुनन्दनसिंह—आप मेरे साथ मोटर पर चलिए, मालकिन को और बच्चों को ले आइए। यहाँ दफ्तर के ऊपर मकान ख़ाली है। बहुत अच्छा और बड़ा मकान है, उसी में आप रहिए और यहाँ का काम-काज देखिए।

श्यामकिशोर—इस समय तो मुझे जाने दो, फिर दो-एक रोज़ में आ जाऊँगा।

रघुनन्दनसिंह—यह तो न होगा। आपको मेरे साथ चलकर अभी उन सबको लाना होगा।

श्यामकिशोर विवश होकर बोले—अच्छी बात है, जो तुम्हारी इच्छा हो करो।

रघुनन्दनसिंह ने चपरासी को बुलाया और उससे बोले—जाओ मोटर तैयार कराकर लाओ और दूसरे आदमी से कहो कि ऊपर का मकान खोल दे।

थोड़ी देर में मोटर आ गई। रघुनन्दनसिंह श्यामकिशोर के साथ जाकर उनकी पत्नी तथा बच्चों को साथ ले आया और उसी मकान में ठहरा दिया।

× × ×

दूसरे दिन सवेरे जब रघुनन्दनसिंह आफ़िस में आये, तो चपरासी ने उनके हाथ में एक बन्द लिफ़ाफ़ा दिया। और बोला—बाबू श्यामकिशोर यह दे गये हैं।

रघुनन्दनसिंह ने पूछा—दे गये हैं ? वह गये कहाँ ?

चपरासी—घर में तो वह कह गये कि एक दिन के लिए लखनऊ जाते हैं।

रघुनन्दनसिंह—किस समय गये ?

चपरासी—कल रात को नौ बजे चले गये।

रघुनन्दनसिंह ने धड़कते हुए हृदय से लिफाफा खोला—उसमें लिखा था—

'प्रिय रघुनन्दनसिंह,

भाग्य ने मुझे तुम्हारे आश्रय में लाकर डाला है। मैं समझता हूँ, कि ईश्वर ने मेरे पापों का सबसे बड़ा दंड मुझे यह दिया कि अन्त में मुझे तुम्हारे आश्रय

में रहना पड़ा ; परंतु नहीं, मैं इस दंड को पूर्णरूप से सहन नहीं कर सकता। इसके लिए मैं भाग्य से—केवल भाग्य से ही नहीं—ईश्वर से भी लड़ूँगा। यद्यपि इस समय तुम लक्षाधीश हो, तथापि यह बात मैं कभी नहीं भूल सकता कि एक समय तुम मेरे साधारण नौकर थे। जब तक मैं यह बात भूल न जाऊँ तब तक मैं तुम्हारे आश्रय में कदापि नहीं रह सकता। आज मैं कंगाल हो गया हूँ ; परंतु मेरा हृदय कंगाल नहीं हुआ है। जिस दिन मेरा हृदय कंगाल हो जायगा, उसी दिन मैं समझूँगा कि मेरा पूरा पतन हो गया। लक्ष्मी पास न रहने से मैंने अपना पतन नहीं माना ; क्योंकि लक्ष्मी किसी की नहीं—आज किसी के पास है, तो कल किसी के पास। यह मैं मानता हूँ कि मैंने पाप किये, परंतु उसके लिए मुझे जो कुछ भी दंड मिलता, मैं सहन करने के लिए प्रस्तुत था ; परंतु तुम्हारे आश्रय में रहना मैं कभी भी स्वीकार न करूँगा। इसी लिए मैं जाता हूँ, और कदाचित् सदैव के लिए। अपनी पत्नी तथा बच्चों को मैं तुम्हारे आश्रय में छोड़े जाता हूँ। मैं समझता हूँ, कि ऐसा करना मुझे शोभा नहीं देता; परंतु क्या करूँ, विवश हूँ। उनको साथ ले जाना मेरे वश की बात नहीं। बस, तुम्हारा केवल इतना ही एहसान लेता हूँ। यदि जीवित रहा, तो समय अनुकूल होने पर मैं उन्हें अपने पास बुला लूँगा और उनके पालन-पोषण में जो कुछ तुम्हारा व्यय होगा, वह अदा कर दूँगा। और, यदि मैं ऐसा न कर सका, तो मैं शान्तिपूर्वक न मर सकूँगा।

अन्त में मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि तुम मनुष्य नहीं, देवता हो।

भवदीय,

श्यामकिशोर।'

रघुनन्दनसिंह ने पत्र पढ़कर एक लम्बी साँस खींची। उसके नेत्रों में आँसू छलछला आये।

एक वर्ष पश्चात् आफिस में रघुनन्दनसिंह बैठे हुए थे, उसी समय एक व्यक्ति उनके पास आया और उनसे पूछा—क्या आप ही का नाम रघुनन्दन सिंह है ?

रघुनन्दनसिंह—हाँ, कहिए ?

उस व्यक्ति ने रघुनन्दनसिंह के हाथ में एक पत्र दिया। रघुनन्दनसिंह ने खोलकर पढ़ा। पत्र में लिखा था—

'प्रिय रघुनंदनसिंह,

आजकल मैं बम्बई में हूँ, और अब इस योग्य हूँ कि अपनी पत्नी तथा बच्चों को अपने पास रख सकूँ, अतएव मैं आदमी भेजता हूँ, उनके साथ मेरी पत्नी तथा बच्चों को भेज देना। और उनके पालन-पोषण में जो कुछ व्यय हुआ हो, वह उनसे ले लेना। परिवार की रक्षा करके तुमने जो मेरी अन्तिम सेवा की है, इसके लिए मैं तुम्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

भवदीय,
श्यामकिशोर।'

रघुनंदनसिंह ने पत्र पढ़कर कहा—अच्छी बात है, आप उन्हें ले जा सकते हैं।

दूसरे दिन चलते समय उस व्यक्ति ने पूछा—बाबूजी ने पत्र में जो कुछ लिखा है, उसके सम्बन्ध में आप कुछ बतलाने की कृपा करेंगे?

रघुनन्दनसिंह मुस्कराकर बोले—उसका उत्तर मैं आपको क्या दूँ। यदि बाबूजी सामने होते, तो उन्हें उत्तर देता।

वह व्यक्ति—फिर भी आपको उत्तर देना चाहिए, क्योंकि बाबूजी ने लिखा है।

रघुनंदनसिंह—उसका उत्तर कुछ नहीं।

वह व्यक्ति—अच्छी बात है।

गाड़ी पर सवार होते समय उस व्यक्ति ने रघुनंदनसिंह के चपरासी के हाथ में एक बंद लिफ़ाफ़ा दिया और कहा—यह अपने मालिक को दे देना।

चपरासी ने लिफ़ाफ़ा लाकर रघुनंदनसिंह के हाथ में दिया। रघुनदनसिंह ने लिफ़ाफ़ा खोला। उसमें २४००) के नोट निकले और एक पर्चा। पर्चे में लिखा था—

'१२००) मेरे परिवार का साल-भर का व्यय और १२००) तुम्हारी सेवा का पुरस्कार।

'श्यामकिशोर।'

रघुनदनसिंह के हाथ से पत्र छूट पड़ा।

———

# रानी सारन्धा

[ १ ]

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी, जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रखा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ और गाँव, दोनों एक बुंदेला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुन्देला राजा उठे और गिरे; कोई गाँव, कोई इलाक़ा, ऐसा न था, जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो; मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह ज़माना ही ऐसा था, जब मनुष्य-मात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोंटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ; मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की ख़ैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिरकर रोई थी, कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो, मुझे तुम्हारे साथ वन-वास अच्छा है, यह वियोग अब नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, ज़िद से कहा, विनय की; मगर अनिरुद्ध बुन्देला था। शीतला अपने किसी शस्त्र से उसे परास्त न कर सकी।

[ २ ]

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी ; मगर तारे आकाश में जागते थे। शीतलादेवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारन्धा फ़र्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी—

'बिन रघुबीर कटत नहीं रैन।'

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती ?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा किसी को ढूँढ़ने गई होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे, और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतरकर ज़मीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं ?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए ?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी ?

अनिरुद्ध—सबने वीरगति पाई।

शीतला ने दबी ज़बान से कहा—ईश्वर ने ही कुशल किया...मगर सारन्धा के तेवरों पर बल पड़ गये और मुख-मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षणभर के लिए अनुराग ने दबा दिया था फिर ज्वलन्त हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध किले के बाहर निकला। पल-भर में नदी के उस पार जा पहुँचा, और

फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे क़िले के दीवारों तक आई; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा, तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहीं आ पहुँची। शीतल ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है?

सारन्धा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता, तो हृदय में छिपा लेती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—डोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध मदरौना को जीतकर लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया; मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदयस्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

[ २ ]

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुन्देला-जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उसने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और अपने बाहु-बल से राज्य-विस्तार करने लगा। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उस पर हमले करती थीं; पर हारकर लौट जाती थीं।

यही समय था, जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा, कि मेरा पति बुन्देला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं; मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया, कि वह देवी, जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, कि चम्पतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वह अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर आप देहली को चला गया। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दारासिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में

शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं; इसलिए उनका बहुत आदर-सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उनके भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था, कि चम्पतराय को आये दिन लड़ाई-झगड़ों से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं; मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज़ हो?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी! आप क्यों ऐसा विचार करते हैं? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जब से यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाये। कहीं प्रेम-लता मुरझाने तो नहीं लगी?

सारन्धा—प्राणनाथ! आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं, जिसका उत्तर मेरे पास नही है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ, कि खुश रहूँ, ; मगर एक बोझा-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे; इसलिए उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़कर बोले—मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन-सा सुख था, जो यहाँ नहीं है।

सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ आप नाराज तो न होंगे?

चम्पतराय—नहीं, शौक़ से कहो।

सारन्धा—ओरछे में मैं एक राजा की रानी थी, यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछे में मैं वह थी, जो अवध में कौशल्या थीं, परन्तु यहाँ मैं

बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े मँहगे दामों में मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे-माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदर-युक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फ़िक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

[ ४ ]

माँ अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग्य जगे। नौबतें झड़ने लगीं और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गये। इसी बीच शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाह-ज़ादाओं में पहले ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगी। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-बिरंगा रूप भरकर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए क़दम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर से निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहरें मार रही थीं, लोभ से भी अधिक विस्तारवाली। घाट पर लोहे की दीवार खड़ी थी, किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश होकर चम्पतराय के पास सँदेशा भेजा, कि खुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइये।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से बैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है, परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिए।

चम्पतराय—प्रिये! तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारंधा—प्राणनाथ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए, कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों की कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नामलेवा रहेगा, यह रक्त-बिंदु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेगा।

वायु-मण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुंदेलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारंधा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुंदेलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक-एक अंग मुसकरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहजादे फूल न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजाकर नदी के किनारे-किनारे पच्छिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ, कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरत ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उस पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घण्टों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा तो सात सौ बुन्देला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादा की सेना ने

भी 'अल्लाहो-अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल पड़ गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई, हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रण-भूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश में अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहजादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई, कि उसके क़दम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कौतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगों की यह धारणा थी, कि यह फ़तह के फ़रिश्ते हैं, शाहजादों की मदद के लिए आये हैं, परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये, तो सारन्धा ने घोड़े से उतरकर उनके पद पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बे-जान लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे, अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानि-पद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली बहादुरखाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक़ था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती, चीते की सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देखकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—खबरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा, उसे धन से निहाल कर दूँगा।

योद्धागण चारों ओर से लपके; परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे से फँसाने की फ़िक्र में

था ; पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रक्खा, और वह उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसके अञ्चल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुप-चाप उसके पीछे चला मानो सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज-परिवार के निमित्त रत्न-जटित मृग प्रतीत हुआ।

[ ५ ]

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजयलाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देखकर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है, और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आ जाते हैं, जो अवसर पर क़दम बढ़ाना जानते हैं ; लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। यह रणधीर पुरुष विजय को नीति की भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा, किन्तु जहाँ एक बार पहुँच गया है, वहाँ से कदम पीछे न हटायेगा। उनमें कोई बिरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है ; किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशाली सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो यह आन पर जान देनेवाला, यह मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है। इस कार्यक्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम जबान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा इन्हीं 'आन पर जान' देनेवालों में थी!

शाहजादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला, तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा, तो विजय-देवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया।

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों का अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष में 'बारह हजारी मनसब' प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुन्देला राजा फिर राज्य-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा, और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक में घुलने लगी।

वलीबहादुरखाँ वाक्चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उस पर राजसभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँअर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँ साहब के महल की तरफ जा निकला। वलीबहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरत अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता। पाँव-पाँव घर आया, और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली—मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया; शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा? क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न सही, किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुन्देला-बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।

यह कहकर उसने अपने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वलीबहादुरखाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँ साहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ चली और एक क्षण में किसी बेगवती नदी के सदृश्य बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी-वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन में निकल आये। लोग अपनी-अपनी तलवारें सँभालने लगे और चारों तरफ

शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गई।

सारन्धा ने उच्च स्वर में कहा—ख़ाँ साहब! बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वह वीरता, जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था, कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?

वलीबहादुरख़ाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज़ से बोले—किसी ग़ैर को क्या मजाज़ है कि मेरी चीज़ अपने काम में लाये?

रानी—वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रणभूमि में पाया है और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते?

ख़ाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नज़र है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

ख़ाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ; परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।

बुन्देला योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय कि बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—रानी साहब! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायगा; परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिए अपना सर्वस्व त्यागने पर तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मनसब भी?

रानी—जागीर और मनसब कोई चीज़ नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी?

रानी—हाँ, राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिए?

रानी—नहीं, उस पदार्थ के लिए, जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान है।

बादशाह—वह क्या है ?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर उच्च राज्यपद और राज-सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

[ ६ ]

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के क़िले में पदार्पण किया। उन्हें मनसब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ, किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकला। वे सारन्धा के स्वभाव को भली-भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्म-गौरव पर कुठार का काम करती। कुछ दिन यहाँ शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए; लेकिन बादशाह सारन्धा की कठोर बातें भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुन्देला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया। और भी कितने ही बुन्देला सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुई। यद्यपि इस समय राजा को विजय प्राप्त हुई; लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुन्देला राजा, जो चम्पतराय के बाहुबल थे, बादशाह के कृपाकांक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दग़ा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं, परन्तु इन कठिनाईयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी, धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और तीन वर्ष तक बुन्देलखण्ड के सघन पर्वतों में छिपे रहे। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँडरा रही थीं। आये दिन राजा का किसी न-किसी से सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती, और उनका साहस बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी, जब कि धैर्य लुप्त हो जाता—और आशा साथ छोड़ देती—आत्म-रक्षा का धर्म उसे

सँभाले रहता था। तीन साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटा लो, और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई ; पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

[ ७ ]

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रक्खा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। क़िले में २० हज़ार आदमी घिरे हुए हैं ; लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनों दिन न्यून होती जाती है। आने जाने के मार्ग चारों तरफ से बन्द हैं। हवा की भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिए आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं। औरतें सूर्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठाकर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को कुछ ढारस होता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे क़िले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु ज़रूर क़िले में घुस आयेंगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ घुन भी पिस जायँगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायें तो कैसे ?

राजा—इन अनाथों को छोड़कर ?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे, तो शत्रु इन पर कुछ दया अवश्य ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायँगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते।

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं? मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की खुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाई सहूँगा; किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी निस्सन्देह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गई हूँ! लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—यदि आपको विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो आपके चलने में कोई बाधा न होगी?

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञापत्र।

राजा—हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे? उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चय करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया, तो उसके कमल-नेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता, मेरे लिए क्या आज्ञा है?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढंग है?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुन्देलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप में अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—यह काम किसको सौंपा जाये?

छत्रसाल—मुझको।

'तुम इसे पूरा कर दिखाओगे?'

'हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।

'अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।'

छत्रसाल जब चला, तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधे; मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुन्देलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है। इसे स्वीकार करो।

[ ८ ]

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिए मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था, और आँखोंतले अँधेरा छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी, कि उसकी थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक काग़ज का पुर्जा लिपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया; लेकिन यह आनन्द क्षण भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया है। काग़ज़ के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा!

मन्दिर से लौटकर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली—प्राणनाथ! आपने जो बचन दिया था, उसे पूरा कीजिए। राजा ने चौंककर पूछा—तुमने अपना वादा पूरा कर लिया? रानी ने प्रतिज्ञा पत्र राजा को दिया। चम्पतराय ने उसे गौर से देखा, फिर बोले—अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा, तो एक बेर फिर शत्रुओं की खबर लूँगा; लेकिन सारन! सच बताओ, इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा?

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सुनूँ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—कौन? अंगदराय?

रानी—नहीं।

राजा—रतनसाह ?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल ?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परमप्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ, तो बोले—सारन, तुमने बुरा किया। अगर छत्रसाल मारा गया, तो बुन्देल-वंश का नाश हो जायगा।

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाये क़िले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमय रात्रि थी, तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर बचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्यद्वाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

[ ६ ]

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसानेवाली प्रचण्ड, प्रखर वायु वन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेवी की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिये पश्चिम की तरफ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर हो जाता था, कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने से शराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे, प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारन्धा ने पीछे की तरफ फिरकर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है।

वे लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ, कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नजर आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुन्देला सिपाहियों ने तलवारें खींच ली। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी; किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष बाण हाथ में ले लिया; किन्तु वह धनुष, जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई। उस पंख-रहित पक्षी के सदृश, जो साँप को अपनी तरफ़ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभलकर उठे और गिर पड़े। सारन्धा ने उन्हें सँभालकर बैठाया और रोकर बोलने की चेष्टा की; परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ! इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरनेवाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई, लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता, स्त्री जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—सारन! देखो हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु, तू कब आयेगी। यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया; मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिय! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई, आँसू

सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का सञ्चार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देखकर बोली - ईश्वर ने चाहा, तो मरते दम तक निबाहूँगी।

सारन्धा ने समझा, राजा मुझे प्राण दे देने का संकेत कर रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह अन्तिम याचना है; इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकालकर अपने वक्षस्थल पर रख लिया और कहा—यह आपकी आज्ञा नहीं है, मेरी हार्दिक अभिलाषा है, कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी, कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ!—इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी—आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित नहीं रहना चाहता।

रानी—हाय, मुझसे यह कैसे होगा!

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था!

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण-भर अनिश्चित-रूप से खड़ी रही; लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान् हो जाती है। निकट था कि, सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम-सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी; पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी।

कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राण-घातिका है। जिस हृदय से आलिंगित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है!

आह! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देखकर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहब! खुदा गवाह है, हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो, उसे ब-सरोचश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

# आँसुओं की होली

[ १ ]

नामों को बिगाड़ने की प्रथा न-जाने कब चली और कहाँ शुरू हुई। कोई इस संसार-व्यापी रोग का पता लगाये, तो ऐतिहासिक संसार में अवश्य ही अपना नाम छोड़ जाय। पण्डितजी का नाम तो श्रीविलास था, पर मित्र लोग 'सिलबिल' कहा करते थे। नामों का असर चरित्र पर भी कुछ न-कुछ पड़ जाता है। बेचारे सिलबिल सचमुच ही सिलबिल थे। दफ्तर जा रहे हैं, मगर पाजामे का इजारबन्द नीचे लटक रहा है। सिर पर फेल्टकैप है; पर लम्बी-सी चुटिया पीछे झाँक रही है अचकन यों बहुत सुन्दर है, कपड़ा फैशनेबल, सिलाई अच्छी; मगर ज़रा नीची हो गई है। न-जाने उन्हें त्योहारों से क्या चिढ़ थी। दिवाली गुजर जाती; पर वह भलामानस कौड़ी हाथ में न लेता। और होली का दिन तो उनकी भीषण परीक्षा का दिन था। तीन दिन वह घर से बाहर न निकलते थे। घर पर भी काले कपड़े पहने बैठे रहते थे; यार लोग टोह में रहते थे, कि कहीं बचा फँस जायँ; मगर घर में घुसकर तो फ़ौजदारी नहीं की जाती। एक-आध बार फँसे भी; मगर घिघिया-पुतिया कर बेदाग़ निकल गये।

लेकिन अबकी समस्या कठिन हो गई थी। शास्त्रों के अनुसार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद उन्होंने विवाह किया था। ब्रह्मचर्य के परिपक्व होने में जो थोड़ी-बहुत कसर रही, वह तीन वर्ष के गौने की मुद्दत ने पूरी कर दी। यद्यपि स्त्री से उन्हें कोई शंका न थी, वह औरतों को सिर चढ़ाने के हामी न थे। इस मामले में उन्हें अपना वही पुराना-धुराना ढंग पसन्द था। बीबी को जब कस कर डाट दिया, तो उसकी मजाल है कि रंग हाथ से छुए। विपत्ति यह थी कि ससुराल के लोग भी होली मनाने आनेवाले थे? पुरानी मसल है, बहन अन्दर, तो भाई सिकन्दर। इन सिकन्दरों के आक्रमण से बचने का उन्हें कोई उपाय न सूझता था। मित्र लोग घर में न जा सकते थे; लेकिन सिकन्दरों को कौन रोक सकता है!

स्त्री ने आँख फाड़कर कहा—अरे भैया ! क्या सचमुच रंग न घर लाओगे? यह कैसी होली है बाबा ?

सिलबिल ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—बस मैंने एक बार कह दिया और बात दोहराना मुझे पसन्द नहीं। घर में रंग नहीं आयेगा और न कोई छुएगा। मुझे कपड़ों पर लाल छींटे देखकर मतली आने लगती है। हमारे घर में ऐसी ही होली होती है।

स्त्री ने सिर झुकाकर कहा—तो न लाना रंग-संग, मुझे रंग लेकर क्या करना है ? जब तुम्हीं रंग न छुओगे, तो मैं कैसे छू सकती हूँ ?

सिलबिल ने प्रसन्न होकर कहा—निस्सन्देह यही साध्वी स्त्री का धर्म है।

'लेकिन भैया तो आनेवाले हैं। वह क्यों मानेंगे ?'

'उनके लिए भी मैंने एक उपाय सोच लिया है। उसे सफल करना तुम्हारा काम है। मैं बीमार बन जाऊँगा। एक चादर ओढ़कर लेट रहूँगा, तुम कहना—इन्हें ज्वर आ गया। बस, चलो छुट्टी हुई ’

स्त्री ने आँखें नचाकर कहा—ऐ नौज, कैसी बातें मुँह से निकालते हो। ज्वर जाय मुद्दई के घर, यहाँ आये, मुँह झुलस दूँ निगोड़े का।

'तो फिर दूसरा उपाय ही क्या है ?

'तुम ऊपरवाली छोटी कोठरी में छिप रहना, मैं कह दूँगी, उन्होंने जुलाब लिया है बाहर निकलेंगे, तो हवा लग जायगी।'

पण्डितजी खिल उठे—बस-बस, यह सबसे अच्छा है !

[ २ ]

होली का दिन है। बाहर हा-हाकार मचा हुआ है। पुराने ज़माने में अबीर और गुलाल के सिवा और कई रंग खेला जाता था। अब नीले, हरे, काले सभी रंगों का मेल हो गया है, और इस संगठन से बचना आदमी के लिए तो संभव नहीं, हाँ देवता बचें, तो बचें। सिलबिल के दोनों साले मुहल्ले भर के मर्दों, औरतों, बच्चों, बूढ़ों का निशाना बने हुए थे। इन्होंने भी एक हण्डा रंग घोल रक्खा था। सिकन्दरी हमले कर रहे थे। बाहर से दीवानख़ाने के फ़र्श, दीवारें, यहाँ तक कि तसवीरें भी रँग उठी थीं। घर में भी यही हाल था। मुहल्ले की ननदें भला कब मानने लगी थीं। परनाला तक रंगीन हो गया था।

बड़े साले ने पूछा—क्यों री चम्पा, क्या सचमुच उनकी तबीयत अच्छी नहीं, खाना खाने भी न आये ?

चम्पा ने सिर झुकाकर कहा—हाँ भैया, रात ही से कुछ पेट में दर्द होने लगा, डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया है।

ज़रा देर बाद छोटे साले ने कहा—क्यों जीजी, क्या भाई साहब नीचे नहीं आवेंगे ? ऐसी भी क्या बीमारी है ! कहो तो ऊपर जाकर देख आऊँ।

चम्पा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं-नहीं, ऊपर मत जैयो ! वह रंग-वंग न खेलेंगे। डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया।

दोनों भाई हाथ मलकर रह गये।

सहसा छोटे भाई को एक बात सूझी—जीजाजी के कपड़ों के साथ क्यों न होली खेलें। ये तो नहीं बीमार हैं।

बड़े भाई के मन में भी यह बात बैठ गई। बहन बेचारी अब क्या करती। सिकन्दरों ने कुञ्जियाँ उसके हाथ से ले लीं और सिलबिल के सारे कपड़े निकाल-निकालकर रंग डाले। रूमाल तक न छोड़ा। जब चम्पा ने उन कपड़ों को आँगन में अलगनी पर सूखने को डाल दिया, तो ऐसा जान पड़ा, मानों किसी रंगरेज ने ब्याह के जोड़े रँगे हों। सिलबिल ऊपर बैठे-बैठे यह तमाशा देख रहे थे, पर ज़बान न खोलते थे। छाती पर साँप-सा लोट रहा था। सारे कपड़े ख़राब हो गये, दफ़्तर जाने को भी कुछ न बचा। इन दुष्टों को मेरे कपड़ों से न-जाने क्या बैर था।

घर में नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जन बन रहे थे। मुहल्ले की एक ब्राह्मणी के साथ चंपा भी जुती हुई थी। दोनों भाई और कई अन्य सज्जन आँगन में भोजन करने बैठे, तो बड़े साले ने चंपा से पूछा—कुछ उनके लिए खिचड़ी-विचड़ी बनाई है। पूरियाँ तो बेचारे आज खा न सकेंगे।

चंपा ने कहा—अभी तो नहीं बनाई, अब बना लूँगी।

'वाह री तेरी अक्ल ! अभी तक तुझे इतनी फ़िक्र नहीं कि वह बेचारे खायेंगे क्या। तू तो इतनी लापरवा कभी न थी। जा निकाल ला, जल्दी से चावल और मूँग की दाल।'

लीजिये, खिचड़ी पकने लगी। इधर मित्रों ने भोजन करना शुरू किया।

सिलबिल ऊपर बैठे अपनी क़िस्मत को रो रहे थे। उन्हें इस सारी विपत्ति का एक ही कारण मालूम होता था—विवाह ! चंपा न आती तो ये साले क्यों आते, कपड़े क्यों ख़राब होते, होली के दिन मूँग की खिचड़ी क्यों खाने को मिलती ; मगर अब पछताने से क्या होता है। जितनी देर में लोगों ने भोजन किया, उतनी देर में खिचड़ी तैयार हो गई। बड़े साले ने खुद चम्पा को ऊपर भेजा कि खिचड़ी की थाली ऊपर दे आवे।

सिलबिल ने थाली की ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—इसे मेरे सामने से हटा ले जाओ !

'क्या आज उपवास ही करोगे ?'

'तुम्हारी यही इच्छा है, तो यही सही'

'मैंने क्या किया ? सवेरे से जुती हुई हूँ। भैया ने खुद खिचड़ी डलवाई और मुझे यहाँ भेजा।'

'हाँ, वह तो मैं देख रहा हूँ कि मैं घर का स्वामी नहीं। सिकन्दरों ने उस पर क़ब्ज़ा जमा लिया ; मगर मैं यह नहीं मान सकता कि तुम चाहती तो और लोगों के पहले ही मेरे पास थाली न पहुँच जाती। मैं इसे पातिव्रत-धर्म के विरुद्ध समझता हूँ, और क्या कहूँ।'

'तुम तो देख रहे थे कि दोनों जने मेरे सिर पर सवार थे।'

'अच्छी दिल्लगी है कि और लोग तो समोसे और खस्ते उड़ावें और मुझे मूँग की खिचड़ी दी जाय। वाह रे नसीब !'

'तुम इसे दो-चार कौर खा लो, मुझे ज्यों ही अवसर मिलेगा, दूसरी थाली लाऊँगी।'

'सारे कपड़े रँगवा डाले ! अब दफ्तर कैसे जाऊँगा ? यह दिल्लगी मुझे ज़रा भी नहीं भाती। मैं इसे बदमाशी कहता हूँ। तुमने सन्दूक की कुञ्जी क्यों दे दी, क्या मैं इतना पूछ सकता हूँ ?'

'ज़बरदस्ती छीन ली। तुमने सुना नहीं क्या ?'

'अच्छा, जो हुआ सो हुआ। यह थाली ले जाओ। धर्म समझना तो दूसरी थाली लाना, नहीं आज व्रत ही सही।'

एकाएक पैरों की आहट पाकर सिलबिल ने सामने देखा, तो दोनों साले

चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही बेचारे ने मुँह बना लिया, चादर से शरीर ढक लिया और कराहने लगे।

बड़े साले ने कहा—कहिये, कैसी तबीयत है! थोड़ी-सी खिचड़ी खा लीजिये।

सिलबिल ने मुँह बनाकर कहा—अभी तो कुछ खाने की इच्छा नहीं है।

'नहीं, उपवास करना तो हानिकर होगा। खिचड़ी खा लीजिये।'

बेचारे सिलबिल ने मन में इन दोनों शैतानों को खूब कोसा और विष की भाँति खिचड़ी कण्ठ के नीचे उतारी। आज होली के दिन खिचड़ी ही भाग्य में लिखी थी। जब तक सारी खिचड़ी समाप्त न हो गई, दोनों वहाँ डटे रहे, मानो जेल के अधिकारी किसी अनशन व्रतधारी क़ैदी को भोजन करा रहे हों। बेचारे को ठूँस-ठूँसकर खिचड़ी खानी पड़ी। पकवानों के लिए गुंजाइश ही न रही।

[ ३ ]

दस बजे रात को चम्पा उत्तम पदार्थों का थाल लिए पतिदेव के पास पहुँची। महाशय मन-ही मन झुँझला रहे थे। भाइयों के सामने मेरी परवाह कौन करता। न-जाने कहाँ से दोनों शैतान फट पड़े। दिन भर उपवास कराया और अभी तक भोजन का कहीं पता नहीं। बारे चम्पा को थाल लाते देखकर कुछ अग्नि शान्त हुई। बोले—अभी तो बहुत सवेरा है, एक-दो घण्टे बाद क्यों न आईं?

चम्पा ने सामने थाल रखकर कहा—तुम तो न हारी मानते हो न जीती। अब आख़िर ये दोनों मेहमान आये हुए हैं, इनकी सेवा सत्कार न करूँ, तो भी काम नहीं चलता। तुम्हीं को बुरा लगेगा। कौन रोज़ आवेंगे।

'ईश्वर न करे कि रोज़ आवें, यहाँ तो एक दिन में बधिया बैठ गई।'

थाल की सुगन्धमय, तरबतर चीज़ें देखकर सहसा पण्डितजी के मुखारविन्द पर मधुर मुस्कान की लाली दौड़ गई। एक-एक चीज़ खाते थे और चम्पा को सराहते थे—सच कहता हूँ चम्पा, मैंने ऐसी चीज़ें कभी नहीं खाई थीं। हलवाई साला क्या बनायेगा। जी चाहता है, कुछ इनाम दूँ।

'तुम मुझे बना रहे हो। क्या करूँ, जैसा बनाने आता है, बना लाई।'

'नहीं जी, सच कह रहा हूँ। मेरी तो आत्मा तक तृप्त हो गई। आज मुझे

ज्ञात हुआ कि भोजन का सम्बन्ध उदर से इतना नहीं जितना आत्मा से है। बताओ क्या इनाम दूँ ?'

'जो माँगूँ वह दोगे।'

'दूँगा, जनेऊ की क़सम खाकर कहता हूँ।'

'न दो तो मेरी बात जाय।'

'कहता तो हूँ भाई, अब कैसे कहूँ। क्या लिखा-पढ़ी कर दूँ ?'

'अच्छा तो माँगती हूँ। मुझे अपने साथ होली खेलने दो।'

पण्डितजी का रंग उड़ गया। आँखें फाड़कर बोले—होली खेलने दूँ! मैं तो होली खेलता ही नहीं। कभी नहीं खेला। होली खेलना होता, तो घर में छिपकर क्यों बैठता।

'औरों के साथ मत खेलो; लेकिन मेरे साथ खेलना ही पड़ेगा।'

'यह मेरे नियम के विरुद्ध है। जिस चीज़ को अपने घर में उचित समझूँ, उसे किस न्याय से घर के बाहर अनुचित समझूँ ? सोचो।'

चम्पा ने सिर नीचा कर के कहा—घर में ऐसी कितनी बातें उचित समझते हो, जो घर के बाहर करना अनुचित ही नहीं, पाप है।

पण्डितजी झेंपते हुए बोले—अच्छा भाई, तुम जीती, मैं हारा। अब मैं तुमसे यही दान माँगता हूँ...

'पहले मेरा पुरस्कार दे दो, पीछे मुझसे दान माँगना'—यह कहते हुए चम्पा ने लोटे का रंग उठा लिया और पण्डितजी को सिर से पाँव तक नहला दिया। जब तक वह उठकर भागें, उसने मुट्ठी भर गुलाल लेकर सारे मुँह पर पोत दिया।

पण्डितजी रोनी सूरत बनाकर बोले—अभी और कुछ कसर बाक़ी हो, तो वह भी पूरी कर लो। मैं न जानता था कि तुम मेरी आस्तीन का साँप बनोगी। अब और कुछ रंग बाक़ी नहीं रहा ?

चम्पा ने पति के मुख की ओर देखा, तो उस पर मनोवेदना का गहरा रंग झलक रहा था। पछताकर बोली—क्या तुम सचमुच बुरा मान गये ? मैं तो समझती थी कि तुम केवल मुझे चिढ़ा रहे हो।

श्रीविलास ने काँपते हुए स्वर में कहा—नहीं चम्पा, मुझे बुरा नहीं लगा।

हाँ, तुमने मुझे उस कर्तव्य की याद दिला दी, जो मैं अपनी कायरता के कारण भूला बैठा था। वह सामने जो चित्र देख रही हो, मेरे परम मित्र मनहरनाथ का है, जो अब संसार में नही है। तुमसे क्या कहूँ, कितना सरस, कितना भावुक, कितना साहसी आदमी था। देश की दशा देख-देखकर उसका खून उबलता रहता था। १६-२० भी कोई उमर होती है; पर वह उसी उम्र में अपने जीवन का मार्ग निश्चित कर चुका था। सेवा करने का अवसर पाकर वह इस तरह उसे पकड़ता था, मानो सम्पत्ति हो। जन्म का विरागी था। वासना तो उसे छू न गई थी। हमारे और साथी सैर-सपाटे करते थे; पर उसका मार्ग सबसे अलग था। सत्य के लिए प्राण देने को तैयार, कहीं अन्याय देखा, और भवें तन गई, कहीं पत्रों में अत्याचार की ख़बर देखी और चेहरा तमतमा उठा। ऐसा तो मैंने आदमी ही नहीं देखा। ईश्वर ने अकाल ही बुला लिया, नहीं तो वह मनुष्यों में रत्न होता। किसी मुसीबत के मारे का उद्धार करने को अपने प्राण हथेली पर लिये फिरता था। स्त्री-जाति का इतना आदर और सम्मान कोई क्या करेगा। स्त्री उसके लिए पूजा और भक्ति की वस्तु थी। पाँच वर्ष हुए, यही होली का दिन था। मैं भंग के नशे में चूर, रंग में सिर से पाँव तक नहाया हुआ, उसे गाना सुनने के लिए बुलाने गया, देखा वह कपड़े पहने कहीं जाने को तैयार है। पूछा—कहाँ जा रहे हो?

उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा—तुम अच्छे वक्त पर आ गये, नहीं तो मुझे जाना पड़ता। एक अनाथ बुढ़िया मर गई है, कोई उसे कन्धा देने वाला नहीं मिलता। कोई किसी मित्र से मिलने गया हुआ है, कोई नशे में चूर पड़ा हुआ है, कोई मित्र की दावत कर रहा है, कोई महफ़िल सजाये बैठा है। कोई लाश को उठानेवाला नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय उस चमारिन की लाश कैसे छुएँगे, उनका धर्म भ्रष्ट होता है, कोई तैयार नहीं होता। बड़ी मुश्किल से दो कहार मिले हैं। एक मैं हूँ। चौथे आदमी की कमी थी, सो ईश्वर ने तुम्हें भेज दिया। चलो चलें।

हाय! अगर मैं जानता कि प्यारे मनहर का अन्तिम आदेश है, तो आज मेरी आत्मा को इतनी ग्लानि न होती। मेरे घर कई मित्र आये हुए थे। गाना हो रहा था। उस वक्त लाश उठाकर नदी जाना मुझे अप्रिय लगा। बोला—

इस वक्त तो भाई मैं नहीं जा सकूँगा। घर पर मेहमान बैठे हुए हैं। मैं तो तुम्हें बुलाने आया था।

मनहर ने मेरी ओर तिरस्कार के नेत्रों से देखकर कहा—अच्छी बात है, तुम जाओ, मैं और कोई साथी खोज लूँगा; मगर तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं थी। तुमने भी वही कहा, जो तुमसे पहले औरों ने कहा था। कोई नई बात नहीं थी। अगर हम लोग अपने कर्तव्य को भूल न गये होते, तो आज यह दशा ही क्यों होती। ऐसी होली को धिक्कार है। त्योहार तमाशा देखने, अच्छी-अच्छी चीजें खाने और अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने का नाम नहीं है। यह व्रत है, तप है, अपने भाइयों से प्रेम और सहानुभूति करना ही त्योहारों का ख़ास मतलब है, और कपड़े लाल करने के पहले खून को लाल कर लो। सुफेद खून पर यह लाली शोभा नहीं देती।

यह कहकर वह चला गया। मुझे उस वक्त यह फटकार बहुत बुरी मालूम हुई। अगर मुझमें वह सेवा-भाव न था तो उसे मुझे यों धिक्कारने का कोई अधिकार न था। घर चला आया; पर वह बातें बराबर मेरे कानों में गूँजती रहीं। होली का सारा मज़ा बिगड़ गया।

एक महीने तक हम दोनों से मुलाक़ात न हुई। कालेज इम्तहान की तैयारी के लिए बन्द हो गया था; इसलिए कालेज में भी भेंट न होती थी। मुझे ख़बर नहीं वह कब और कैसे बीमार पड़ा, कब अपने घर गया। सहसा एक दिन मुझे उसका एक पत्र मिला। हाय! उस पत्र को पढ़कर आज भी छाती फटने लगती है।

श्रीविलास एक क्षण तक गला रुक जाने के कारण बोल न सके। फिर बोले—किसी दिन तुम्हें दिखाऊँगा। लिखा था—मुझसे आख़िरी बार मिल जाओ, अब शायद इस जीवन में भेंट न हो; ख़त मेरे हाथ से छूट कर गिर पड़ा। उसका घर मेरठ के ज़िले में था। दूसरी गाड़ी जाने में आधे घंटे की कसर थी; परन्तु चल पड़ा; मगर उसके दर्शन न बदे थे। मेरे पहुँचने के पहले ही वह सिधार चुका था। चम्पा, उसके बाद मैंने होली नहीं खेली। होली ही नहीं, और सभी त्योहार छोड़ दिये। ईश्वर ने शायद मुझे क्रिया की शक्ति नहीं दी। अब बहुत चाहता हूँ कि कोई मुझसे सेवा का कोई काम ले। खुद आगे

नहीं बढ़ सकता ; लेकिन पीछे चलने को तैयार हूँ ; पर कोई मुझसे काम लेने-वाला नहीं। लेकिन आज यह रंग डालकर तुमने मुझे उस धिक्कार की याद दिला दी। ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं मन में ही नहीं, कर्म में भी मनहर बनूँ।

यह कहते हुए श्रीविलास ने तश्तरी मे गुलाल निकाला और उसे चित्र पर छिड़ककर उसे प्रणाम किया।

---

# बड़े घर की बेटी

[ १ ]

बेनीमाधवसिंह गौरीपुर गाँव के ज़मींदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धनधान्य-सम्पन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तम्भ थे। कहते हैं इस दरवाजे पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था ; पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँडी लिए उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधवसिंह अपनी आधी से आधी सम्पत्ति वकीलों को भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय, वार्षिक एक हजार से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठसिंह था। उन्होंने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ्तर में नौकर थे। छोटा लड़का लालबिहारीसिंह दोहरे बदन का सजीला जवान था। मुखड़ा भरा हुआ चौड़ी छाती, भैंस का दो सेर ताजा दूध वह सबेरे पी जाता था। श्रीकण्ठ-सिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने इन्हीं दो अक्षरों पर न्यौछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कान्तिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रन्थों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। साँझ सबेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली, कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकण्ठ इस अंग्रेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अंग्रेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे ; बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निन्दा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गुण-गान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आज-कल स्त्रियों की कुटुम्ब में मिल-जुलकर रहने की ओर जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश के लिए बहुत ही हानिकर समझते थे। यही कारण था, कि गाँव की ललनाएँ उनकी निन्दक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी सङ्कोच न करती थीं, स्वयं उनकी पत्नी को ही विषय में उनसे विरोध था, यह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास, ससुर, देवर से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहन करने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये-दिन के कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाई जाय।

आनन्दी एक बड़े उच्च-कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी, सिकरे झाड़-फ़ानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, वह सभी यहाँ विद्यमान थे। भूपसिंह नाम था। बड़े उदार-चित्त, प्रतिभाशाली पुरुष थे ; पर दुर्भाग्य, लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब-की-सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये ; पर जब पन्द्रह-बीस-हज़ार का क़र्ज़ सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनन्दी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणशीला थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्मसङ्कट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था, कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकण्ठ उनके पास किसी

चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचार का चन्दा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूम-धाम से श्रीकण्ठसिंह का आनन्दी के साथ विवाह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आई, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीमटाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी! रेशमी स्लीपर साथ लाई थी; पर यहाँ बाग़ कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था; किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नयी अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

[ २ ]

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से कहा—जल्दी से पका दो। मुझे भूख लगी है। आनन्दी भोजन बनाकर उसकी राह देख रही थी। अब यह नया व्यंजन बनाने बैठी। हाँड़ी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी, किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया। लालबिहारी ज़ोर से बोला—अभी परसों घी आया है, इतनी जल्दी उठ गया?

आनन्दी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव-भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तिनककर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो?

स्त्री गालियाँ सह लेती है, मार भी सह लेती है; पर मैके की निन्दा उससे

नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेरकर बोली—हाथी मरा भी तो नौ लाख का, वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी और बोला—जी चाहता है कि जीभ पकड़कर खींच लूँ!

आनन्दी को भी क्रोध आया। मुँह लाल हो गया, बोली—वह होते; तो आज इसका मजा चखा देते!

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठाकर आनन्दी की ओर ज़ोर से फेंकी और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी!

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया; पर अँगुली में बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति ही के बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी लोहू का घूँट पीकर रह गई।

( ३ )

श्रीकण्ठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनन्दी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया, न पिया, उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल सन्ध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश और काल-सम्बन्धी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र-पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था कि खाने-पीने की सुधि न रहती थी। श्रीकण्ठ का पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। यह दो-तीन घण्टे आनन्दी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पचायत उठी। जब एकान्त हुआ, तब लालबिहारी ने कहा—भैया, आप ज़रा घर में समझा दीजिएगा कि मुँह सँभालकर बातचीत किया करें; नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधवसिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी—हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि पुरुषों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी है, तो हम लोग भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।

श्रीकण्ठ ने चिन्तित स्वर से पूछा—आखिर बात क्या हुई ?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नहीं, यों ही आप ही आप उलझ पड़ी। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकण्ठ खा-पीकर आनन्दी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हजरत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है ?

श्रीकण्ठ बोले—बहुत प्रसन्न है ; पर तुमने आज-कल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है ?

आनन्दी की तेवरियों पर बल पड़ गये। और झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—जिसने तुमसे यह आग लगाई है, उसे पाऊँ, तो उसका मुँह झुलस दूँ।

श्रीकण्ठ—इतनी गरम क्यों होती हो ? बात तो कहो।

आनन्दी—क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है, नहीं तो एक गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी ढंग नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकण्ठ—सब साफ़-साफ़ हाल कहो, तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनन्दी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँड़ी में पाव-भर से अधिक न था। वह मैंने सब मांस में डाल दिया। जब वह खाने बैठा, तो कहने लगा—दाल में घी क्यों नहीं है ? बस इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई कहार खा जाते हैं और किसी को जान नहीं पड़ता। बस, इतनी सी बात पर उस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लेती, तो सिर फट जाता। उसी से पूछो कि मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ ?

श्रीकण्ठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—यहाँ तक हो गया। इस छोकरे का यह साहस !

आनन्दी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी ; क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकण्ठ बड़े धैर्यवान् और शान्त पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था ; पर स्त्रियों के आँसू पुरुष की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—दादा, अब अब इस घर में मेरा निर्वाह न होगा।

इस तरह की विद्रोह-पूर्ण बातें करने पर श्रीकण्ठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था; परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ी! दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधवसिंह घबराकर उठे और बोले—क्यों?

श्रीकण्ठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं; यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिन्ता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ ; किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधवसिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकण्ठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोले—बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं, उनको बहुत सिर चढाना अच्छा नहीं।

श्रीकण्ठ—इतना मैं जानता हूँ। आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से इसी गाँव में कई घर सँभल गये ; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दण्ड नहीं देता।

अब बेनीमाधवसिंह भी गरमाये। ऐसी बात और न सुन सके, बोले—

लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन...

श्रीकण्ठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधवसिंह—स्त्री के पीछे!

श्रीकण्ठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शान्त करना चाहते थे, लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने से वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकण्ठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने पर तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तलमलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे, वे कहा करते थे, श्रीकण्ठ अपने बाप से दबता है; इसलिए वह दब्बू है, उसने इतनी विद्या पढ़ी इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधवसिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभकामनाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया। बेनीमाधवसिंह पुराने आदमी थे, इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल शब्दों में बोले—बेटा! मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथ-कण्डों की उसे क्या खबर! बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान् लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह

बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा करो।

श्रीकण्ठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिये, जहाँ चाहे चला जाय बस, यही मेरा अन्तिम निश्चय है।

लालबिहारीसिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़े बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकण्ठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले, या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकण्ठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुद्गर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी। पिछले साल उसने जब अपने से ड्योढ़े जवान को नागपञ्चमी के दिन दगल में पछाड़ दिया, तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था, पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने किये पर आप पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से ही उसकी छाती धड़-कती थी, कि देखूँ भैया क्या कहते हैं। उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा उनसे कैसे बोलूँगा। मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था, परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकण्ठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता, पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछी, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते;

इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

[ ४ ]

जिस समय लालबिहारीसिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर था, उस समय श्रीकण्ठसिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं और कतराकर निकल गये। मानो उसकी परछाईं से भी दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी; लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों हो जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाजे पर खड़ा यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ है, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकण्ठ को देखकर आनन्दी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकण्ठ—तो मैं क्या करूँ?

आनन्दी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे, मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकण्ठ—मैं न बुलाऊँगा।

आनन्दी—पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो, कहीं चल दें।

श्रीकण्ठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—भाभी! भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते; इस लिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर

बढ़ा। अन्त में आनन्दी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखों में आँसू भरे बोला—मुझे जाने दो।

आनन्दी—कहाँ जाते हो ?

लालबिहारी—जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनन्दी—मैं न जाने दूँगी।

लालबिहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनन्दी—तुम्हें मेरी सौगन्ध, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी—मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं।

अब श्रीकण्ठ का हृदय पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूटकर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—भैया! अब कभी मत कहिएगा कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकण्ठ ने काँपते हुए स्वर में कहा—लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ, ईश्वर चाहेगा, तो अब फिर ऐसा अवसर न आवेगा।

बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये, बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह बात सुनी, उसी ने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

---

# रामलीला

इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पाजामा और काले रंग का कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू हू करते देखकर अब हँसी आती है; मज़ा नहीं आता। काशी की लीला जगद्विख्यात है। सुना है, लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया; पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अन्तर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज-समाज अच्छे हैं। राक्षसों और बन्दरों के चेहरे पीतल के हैं। गदाएँ भी पीतल की; कदाचित् वनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों; लेकिन साज-समाज के सिवा वहाँ भी वही हू हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है।

लेकिन एक जमाना वह था, जब मुझे भी रामलीला में आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हल्का-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था। संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था और जिस घर में लीला-पात्रों का रूप-रंग भरा जाता था, वह मेरे घर से बिल्कुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता और जिस उत्साह से दौड़-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन भी लेने नहीं जाता। एक कोठरी में राजकुमारों का शृंगार होता था। उनकी देह में रामरज पीसकर पोती जाती; मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुँदकियाँ लगाई जाती थीं। सारा माथा, भौंहे, गाल, ठोढ़ी बुन्दकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्रजी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमांच होता था, वह

अब लाट साहब के दरबार में कुरसी पर बैठकर भी नहीं होता। एक बार जब होम मेम्बर साहब ने व्यवस्थापक सभा में मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमांच हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब तहसीलदारी में नामज़द हुआ, तब भी कुछ ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं; पर इनमें और बाल-विह्वलता में बड़ा अन्तर है। तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूँ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था। मैं दो-चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था। आज शृंगार देखने न गया। विमान भी निकला; पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दाँव लेना था। अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की ज़रूरत थी, जितना मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता, तो मैं कब का भाग खड़ा होता; लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। खैर दाँव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता, तो धाँधली करके दस-पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफ़ी गुञ्जाइश थी; लेकिन अब इसका मौक़ा न था। मैं सीधे नाले की तरफ़ दौड़ा। विमान जल-तट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा, मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आख़िर जब मैं भीड़ हटाता, प्राणपण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। मैं अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे, लेकिन वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानों मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नक़ल में भी असल की कुछ न-कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्या उबारते? मैं विकल होकर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो। कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की तरफ़ दौड़ता; पर सब-के-सब अपनी धुन में मस्त थे, मेरी चीख़-पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तब से बड़ी बड़ी विपत्तियाँ झेलीं; पर उस समय जितना दुःख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचन्द्र से कभी न बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज ही दूँगा ; लेकिन ज्योंही नाले को पार करके वह पुल की ओर से लौटे, मैं दौड़कर विमान पर चढ़ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानों कोई बात ही न हुई थी।

[ २ ]

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होनेवाली थी ; पर न-जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न तो घर जाने की छुट्टी ही मिलती थी, न भोजन का प्रबन्ध ही होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाक़ी सारे दिन कोई पानी को भी न पूछता ; लेकिन मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों की त्यों थी। मेरी दृष्टि में वह अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की जो चीज़ मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हें खिलाने में मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फ़ल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचन्द्र वहाँ न मिलते, तो उन्हें चारों ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज़ उन्हें न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

ख़ैर राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गई। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचन्द्र की सवारी निकली और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपये दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलिस के आदमी थे ; इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी। इस वक्त मुझे जितनी लज्जत आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त संयोग से एक रुपया था ; मेरे मामाजी दशहरे के पहले आये थे और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपये को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे ख़र्च न कर सका। मैंने तुरंत वह रुपया लाकर आरती की थाली में डाल दिया। पिताजी मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं ; लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती

की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता, मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि ४-५ सौ रुपयों से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही ख़र्च कर चुके थे। उन्हें इसकी बड़ी फ़िक्र हुई कि किसी तरह कम-से-कम २००) और वसूल हो जायँ। और, इसकी सबसे अच्छी तरकीब उन्हें यही मालूम हुई कि वेश्याओं द्वारा महफिल में वसूल हो। जब लोग आकर बैठ जायँ और महफिल का रंग जम जाय, तो आबादी जान रसिकजनों की कलाइयाँ पकड़-पकड़कर ऐसे हाव-भाव दिखावे कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ-न-कुछ दे ही मरें। आबादीजान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं संयोग से उन दोनों प्राणियों की बातें सुन रहा था चौधरी साहब ने समझा होगा, यह लौंडा क्या मतलब समझेगा; पर यहाँ ईश्वर की दया से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ में आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबक़ा तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अबकी चन्दा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी०—आप मुझसे ज़मीदारी चालें चलते हैं, क्यों? मगर यहाँ हुजूर की दाल न गलेगी। वाह! रुपये तो मैं वसूल करूँ और मूँछों पर ताव आप दें। कमाई का यह अच्छा ढंग निकाला है। इस कमाई से तो वाक़ई आप थोड़े दिनों में राजा हो जायँगे। उसके सामने ज़मींदारी झक मारेगी! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिए। खुदा की क़सम, मालामाल हो जाइएगा।

चौधरी—तुम तो दिल्लगी करती हो और यहाँ क़ाफ़िया तंग हो रहा है।

आबादी०—तो आप भी तो मुझी से उस्तादी करते हैं। यहाँ आप जैसे कइयों को रोज़ उँगलियों पर नचाती हूँ।

चौधरी—आख़िर तुम्हारी मंशा क्या है?

आबादी०—जो कुछ वसूल करूँ, उसमें आधा मेरा और आधा आपका। लाइए हाथ मारिए।

चौधरी—यही सही।

आबादी०—अच्छा, तो पहले मेरे १००) गिन दीजिए। पीछे से आप अलसेट करने लगेंगे।

चौधरी—वाह ! वह भी लोगी और यह भी ?

आबादी०—अच्छा ! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उजरत छोड़ दूँगी ? वाह री आपकी समझ ? खूब, क्यों न हो। दीवाना बकारे ख्वेश हुशियार।

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फीस लेने की ठानी है ?

आबादी०—अगर आपको सौ दफे ग़रज़ हो तो ! वरना मेरे १००) तो कहीं गये ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ !

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख़ औरत थी। एक तो कमसिन उस पर हसीन। और उसकी अदाएँ तो ग़ज़ब की थीं कि मेरी तबीयत मस्त हुई जाती थी। आदमियों को पहचानने का गुण भी उसमें कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गई, उससे कुछ-न कुछ ले ही लिया। पाँच रुपये से कम तो शायद ही किसी ने दिये हों। पिताजी के सामने भी वह जा बैठी। मैं तो मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी कलाई पकड़ी, तब तो मैं सहम उठा। मुझे यक़ीन था कि पिताजी उसका हाथ झटक देंगे और शायद दुत्कार भी दें ; किन्तु यह क्या हो रहा है ! ईश्वर ! मेरी आँखें धोखा तो नहीं खा रही हैं ! पिताजी मूँछों में हँस रहे हैं। ऐसी मृदु हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था ; मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे ! यह फिर क्या हुआ ! आबादी तो उनके गले में बाहें डाले देती है। अबकी पिताजी ज़रूर उसे पीटेंगे। चुड़ैल को ज़रा भी शर्म नहीं !

एक महाशय ने मुस्कराकर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी आबादी-जान ! और दरवाज़ा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही और बहुत ही उचित कही ;

लेकिन न जाने क्यों पिताजी ने उनकी ओर कुपित नेत्रों से देखा और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो कुछ न बोले; पर उनके मुख की आकृति चिल्लाकर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया मुझे समझता क्या है? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं, रुपये की हक़ीक़त ही क्या! तेरा जी चाहे आजमा ले। तुझसे दूनी रक़म न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ! महान् आश्चर्य! घोर अनर्थ! अरे ज़मीन; तू फट क्यों नहीं जाती! आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता? अरे मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती! पिताजी जेब में हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज़ निकाली और सेठजी को दिखाकर आबादीजान को दे डाली। आह! यह तो अशर्फ़ी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठजी उल्लू बन गये। पिताजी ने मुँह की खाई, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिताजी ने एक अशर्फी निकालकर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्व-युक्त उल्लास था, मानो उन्होंने हातिम की क़ब्र पर लात मारी हो। यही पितजी तो हैं, जिन्होंने मुझे आरती में १) डालते देखकर मेरी ओर इस तरह देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायँगे। मेरे उस परमोचित व्यवहार से उनके रोब में फ़र्क आता था और इस समय इस घृणित, कुत्सित, निन्दित व्यापार पर वह गर्व और आनन्द से फूले न समाते थे।

आबादी जान ने एक मनोहर मुसकान के साथ पिताजी को सलाम किया और आगे बढ़ी; मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्तक झुका जाता था। अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्माँ से ज़रूर करता था; पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रखा। मैं जानता था, उन्हें यह बात सुनकर बड़ा दुःख होगा।

रात भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चलकर देखूँ; पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा? कहीं किसी ने पिताजी का जिक्र छेड़ दिया तो मैं क्या करूँगा?

प्रातःकाल रामचन्द्र की बिदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही और आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा। डर रहा था कि कहीं रामचन्द्र

चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा, तवायफ़ों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरत से नाक-मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख न उठाई। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे, और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया-डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ कोई न था। मैंने कुण्ठित स्वर में रामचन्द्र से पूछा—क्या तुम्हारी बिदाई हो गई।

रामचन्द्र—हाँ, हो तो गई। हमारी बिदाई ही क्या? चौधरी साहब ने कह दिया जाओ, चले जाते हैं।

'क्या रुपये और कपड़े नहीं मिले?'

'अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं इस वक़्त बचत में रुपये नहीं हैं। फिर आकर ले जाना।'

'कुछ नहीं मिला?'

'एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था, कुछ रुपये मिल जायँगे, तो पढ़ने की किताबें ले लूँगा। सो कुछ न मिला। राह-ख़र्च भी नहीं दिया। कहते हैं, कौन दूर है, पैदल चले जाओ!'

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चलकर चौधरी को ख़ूब आड़े हाथों लूँ। वेश्याओं के लिए रुपये, सवारियाँ सब कुछ; पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं! जिन लोगों ने रात को आबादीजान पर दस-दस बीस-बीस रुपये न्यौछावर किये थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो, चार-चार आने पैसे भी नहीं हैं? पिताजी ने भी तो आबादीजान को एक अशर्फ़ी दी थी। देखूँ, इनके नाम पर क्या देते हैं। मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास गया। वह कहीं तफ़तीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखकर बोले—कहाँ घूम रहे हो? पढ़ने के वक़्त तुम्हें घूमने की सूझती है?

मैंने कहा—गया था चौपाल। रामचन्द्र बिदा हो रहे हैं। उन्हें चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।

'तो तुम्हें इसकी क्या फ़िक्र पड़ी है?'

'वह जायँगे कैसे? पास राह-ख़र्च भी तो नहीं है!'

'क्या कुछ ख़र्च भी नहीं दिया? यह चौधरी साहब की बेइंसाफ़ी है।'

'आप अगर २) दे दें, तो मैं उन्हें दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जायें।'

पिताजी ने तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—जाओ, अपनी किताब देखो। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

यह कहकर घोड़े पर सवार हो गये। उसी दिन पिताजी पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। मैंने फिर कभी उनकी डाँट डपट की परवाह नहीं की। मेरा दिल कहता—आपको मुझे उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गई। वह जो कहते, मैं ठीक उसका उलटा करता। यद्यपि इससे मेरी ही हानि हुई; लेकिन मेरा अन्तःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वह दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ बिदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ क़स्बे के बाहर पहुँचाने आया।

उन्हें बिदा करके लौटा, तो मेरी आँखें सजल थीं; पर हृदय आनन्द से उमड़ा हुआ था।

---

श्री 'सुदर्शन'

# न्याय-मंत्री

[ १ ]

यह घटना आज से, २,५०० वर्ष पहले की है। एक दिन सन्ध्या-समय जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्धगया नामक गाँव में एक परदेशी, शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिए स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे अधिक निर्धन थे। घोर दारिद्रय ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पञ्जर निकाल रक्खा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी; परन्तु फिर भी परदेशी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल गया, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है, उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिये, अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।

परदेशी और ब्राह्मण, दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में अतिथि-सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेशी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—आपका पुत्र बड़े काम का है, उसकी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।

परदेशी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—क्षमा कीजिये, मेरा यह अभिप्राय न था; परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं, अब तो आँखें उनके लिए तरसती हैं।

शिशुपाल ने उत्तर दिया—ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।

'मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा ?'

शिशुपाल ने एक लम्बी चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिनको सुनकर परदेशी चकित हो गया। उसकी बातें ऐसी युक्ति-युक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेशी उन पर मुग्ध हो गया। इस छोटे-से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्व-दर्शी पण्डित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति-युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा— मुझे ख़याल न था, कि गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय, तो आपकी किसी ऊँची पदवी पर नियुक्ति कर दें।

शिशुपाल के शुष्क होठों पर मुसकराहट आ गई। जिनका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, जिसके नेत्र आँसू बरसा रहे हों, जिसका मस्तिष्क अपने आपे में न हो, उसके होठों पर हँसी ऐसी भयानक प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी, वरन् उससे भी अधिक! शिशुपाल की आँखें नीचे झुक गईं। उन्होंने थोड़ी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा—आज-कल बड़ा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लग जाता है।

परदेशी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।

'रहने दो, मैं सब जानता हूँ।'

'दोष निकालना सुगम है ; परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।'

'शिशुपाल ने अग्नि पर पड़े हुए पत्ते की नाईं झुलसकर उत्तर दिया—

'अवसर मिले, तो दिखा दूँ, कि न्याय किसे कहते हैं!'

'तो आप अवसर चाहते हैं ?'

'हाँ, अवसर चाहता हूँ।'

'फिर तो कोई अन्याय न होगा ?'

'सर्वथा न होगा।'

'कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा ?'

'कदापि नहीं बचेगा।'

परदेशी ने सहज भाव से कहा—यह बहुत कठिन है।

'ब्राह्मण के लिए कुछ भी कठिन नहीं। मैं न्याय का डंका बजाकर दिखा दूँगा।'

परदेशी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने हँसकर उत्तर दिया—यदि मैं अशोक होता, तो आपकी माँग पूरी कर देता।

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा; परन्तु दूसरे क्षण में वह दूर हो गया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्रखण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

[ २ ]

दूसरे दिन महाराज अशोक के दरबार में शिशुपाल बुलाया गया। इस समाचार से गाँव-भर में आग-सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमन-नीति का प्रारम्भ था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे, कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढ़ा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बड़े-बड़े वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया, कि शिशुपाल के लिए यह बुलावा मृत्यु का सन्देश है। उनको पूरा-पूरा विश्वास था, कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ, कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा और वे फूट-फूटकर रोने लगे। लोगों ने धीरज बँधाना आरम्भ किया; शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी कानून का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा? निस्सन्देह राजा ऐसा अन्यायी और अन्धा नहीं हो सकता कि निर्दोषी ब्राह्मणों को दुःख देने लगे। दुःख और कष्ट की लहरों के मध्य में वे इस प्रकार मौन खड़े थे, जिस प्रकार समुद्र की शिला। उन्होंने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलीपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे और जब राजमहल में पहुँचाये गये, उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परन्तु राजमहल की चमक-दमक का उन पर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोड़े जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई में पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते—किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है बेधड़क होकर कह दिया करता हूँ, कहीं इसका फल न

भुगतना पड़े, कई शत्रु हैं। कभी सोचते—वह परदेशी, पता नहीं कौन था? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो और यह आग उसी की लगाई हो। तब उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल-मिलकर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ। कभी सोचते—कदाचित् मेरी दरिद्रता की कहानी वहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराजा ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार में हृदय-कमल खिल जाता; परन्तु फिर दूसरे विचार से मुर्झा जाता। इतने में प्रतीहारी ने कहा—महाराज आ रहे हैं।

शिशुपाल का कलेजा धड़कने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्राण होठों तक आ गये हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम गई। महाराज अशोक राजकीय ठाट से कमरे में आये और मुस्कराते हुए बोले—ब्राह्मण देवता, मुझे तो आपने पहचान ही लिया होगा।

शिशुपाल घबराकर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम रोम काँप रहा था, ये वही थे।

[ २ ]

हाँ ये वही थे। शिशुपाल काँप कर रह गये। कौन जानता था कि शीत काल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेनेवाला परदेशी भारतसम्राट हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं; अन्यथा उतनी स्वतन्त्रता से बातचीत न करता।

महाराज अशोक बोले—हूँ!

'परन्तु मैंने कोई बात बढ़ाकर नहीं कही थी।'

'हूँ!'

'मैं प्रमाण दे सकता हूँ।'

महाराज ने कहा—मैं नहीं चाहता।

'तो मुझे क्या आज्ञा होती है?'

'मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।'

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—क्या यह सच हो जायगा!

महाराज ने कहा—आपने कहा था कि यदि मुझे अवसर दिया जाय, तो मैं न्याय का डंका बजा दूँगा। मैं आपकी इस विषय में परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं?

शिशुपाल ने हंस की तरह गर्दन ऊँची की, और कहा—हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है तो मैं तैयार हूँ।

'कल प्रातःकाल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।'

'बहुत अच्छा!'

'पाटलिपुत्र की पुलीस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे अधीन होगा, और शांति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा।'

'बहुत अच्छा!'

'यदि कोई घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुम पर होगा।'

'बहुत अच्छा!'

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतारकर बोले—यह राजमुद्रा है, तुम कल प्रातःकाल की पहली किरण के साथ न्याय मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो।

[ ४ ]

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मन्त्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारो ओर धूम मच गई। शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है। ऐसा प्रतीत होता था। उन्होंने चोर-डाकुओं को इस प्रकार वश में कर लिया था, जिस प्रकार सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी, कि लोग दरवाजे तक खुले छोड़ जाते थे; परन्तु किसी की हानि न होती थी। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफ़ारिश सुनता था। वह केवल दण्ड देना जानता था और दण्ड भी शिक्षा-प्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर कर दिया।

रात्रि का समय था। आकाश में तारे खेलते थे। एक अमीर ने एक विशाल भवन के द्वार पर दस्तक दी। दरीचे से किसी स्त्री ने सिर निकालकर पूछा—कौन है ?

'मैं हूँ, दरवाजा खोल दो।'

'परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।'

'परवा नहीं, तुम दरवाज़ा खोल दो।'

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—मैं नहीं खोलूँगी, तुम इस समय जाओ।

अमीर ने क्रोध से कहा—दरवाज़ा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।

स्त्री ने उत्तर दिया—जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।

अमीर ने तलवार निकालकर दरवाज़े पर आक्रमण किया। सहसा एक पहरेदार ने आकर उसका हाथ थाम लिया और कहा—क्या कर रहे हो ?

अमीर ने उसकी ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है और क्रोध से बोला—तुम कौन हो ?

'मैं पहरेदार हूँ।'

'तुमको किसने नियत किया है ?'

'न्याय-मन्त्री ने।'

'मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।'

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—परन्तु इस समय महाराज अशोक भी आ जायँ, तो भी नहीं टलूँगा।

'क्यों मृत्यु को बुला रहे हो ?'

'मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।'

'किससे प्रण किया है ?'

'न्याय-मन्त्री से।'

'क्या ?'

'यही कि जब तक तन में प्राण है और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।'

अमीर ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—आप ग़लती कर रहे हैं, मैं नौकरी पर हूँ।

परन्तु अमीर ने सुना अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली, परन्तु वह अभी नया था, पहले ही बार में गिर गया और मारा गया। अमीर का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था। परन्तु घाव मर्म-स्थान पर लगा। अमीर ने उसकी लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

[ ५ ]

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर में चर्चा थी। लोग हैरान थे, कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलिस के कर्मचारी को मार डाले और फिर शिशुपाल के शासन में। राजधानी में आतङ्क छा गया। पुलिस के आदमी चारों ओर दौड़ते-फिरते थे, मानों यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो। न्याय मन्त्री ने भी मामले की खोज में दिन-रात एक कर दी। यह घटना उनके शासन-काल में पहली थी। उनको खाना-पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर उठा न रखी; परन्तु कुछ पता न चला।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते—तुमने कितने ज़ोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया? न्याय-मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज कहते—घातक कब तक पकड़ा जायगा? न्याय-मन्त्री उत्तर देते—यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा। महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते—हत्यारा पकड़ा गया? न्याय मन्त्री कहते—नहीं। महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, बादल की नाईं गरजकर बोलते—मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तंग आ गया हूँ।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया; परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज अशोक ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—तुम्हें तीन दिन की अवधि दी जाती है; यदि इस बीच में घातक न पकड़ा गया, तो तुम्हें फाँसी दे दी जायगी।

इस समाचार से नगर में हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर-

अन्दर शिशुपाल लोकप्रिय हो चुके थे। उनके न्याय की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे जो कुछ भी हो जाय; परन्तु शिशुपाल का बाल बाँका न हो। शिशुपाल स्वयं बड़ी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे; परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घण्टे बाकी थे।

रात्रि का समय था; परन्तु शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाज़ार में घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिड़की खुली और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—तुम कौन हो? पहरेदार!

निराशा के अन्धकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।

'ज़रा यहीं ठहरो।'

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाज़े पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—आज अन्तिम रात्रि है?

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और उत्तर दिया—हाँ, अन्तिम।

शब्द साधारण थे; परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तलमलाकर खड़ी हो गई और बोली—मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—कहो।

'रात्रि का समय था। घातक ने इस मकान का दरवाज़ा खटखटाया। वह प्रायः आया करता है।'

'परन्तु क्यों?'

'उसका आचार अच्छा नहीं।'

'फिर आगे?'

मैंने उत्तर दिया—जिसके पास तुम आये हो, वह यहाँ नहीं है; परन्तु उसने इसे झूठ समझा और दरवाज़ा तोड़ने को उद्यत हुआ। पहरेदार ने उसे रोका, और उसके हाथ से मारा गया।

न्याय-मन्त्री ने पूछा—परन्तु घातक कौन है ?

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की नाईं चारों ओर देखा।

[ ६ ]

दूसरे दिन दरबार में तिल धरने को स्थान न था। आज न्याय-मन्त्री का भाग्य-निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही कहा—न्याय-मन्त्री !

शिशुपाल सामने आये। इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई अशान्ति न थी।

महाराज ने पूछा—घातक का पता लगा ?

न्याय मन्त्री ने साहस-पूर्वक उत्तर दिया—हाँ, लग गया।

'पेश करो।'

न्याय-मन्त्री ने सिर झुकाकर सोचा—इस समय उनके हृदय में दो विरोधी शक्तियों का संग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होंने दृढ़ संकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च-अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—धनवीर !

'श्रीमान् ?'

'गिरफ्तार कर लो, मैं आज्ञा देता हूँ।'

इशारा महाराज की ओर था। दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रों से अग्नि-कण निकलने लगे। वे तलमलाकर खड़े हो गये और बोले—अरे ब्राह्मण ! तुझे यहाँ तक साहस हो गया ?

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं और अपने शब्दों को फिर दुहराया—मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो।

धनवीर पुतली की नाईं आगे बढ़ा। दरबारियों की साँस रुक गई। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मन्त्री ने कहा—यह घातक है। मेरी अदालत में पेश करो।

धनवीर ने अशोक को हथकड़ी लगा दी और शिशुपाल को कचहरी की

ओर ले चला। यहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।

महाराज अशोक ने संकेत किया, मन्त्री-गण पीछे हट गये। महाराज उस जॅगले में खड़े हो गये जो अपराधी के लिए नियत किया गया था। छत्रपति नरेश का, अपने राज्य में, स्वयं उसके नौकर के हाथ यह सम्मान हो सकता है, इसकी किसी को आशंका न थी; परन्तु शिशुपाल दृढ़-संकल्प के साथ न्यायासन पर विराजमान थे। उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। हाथों को न्याय रज्जु ने बाँध रखा था। वे धीरे से बोले—तुम पर पहरेदार की हत्या का अपराध है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—वह उद्दण्ड था।

'तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?'

'हाँ, मैंने उसको मारा है; परन्तु मैंने जान-बूझकर नहीं मारा।'

'वह उद्दण्ड नहीं था, मैं उसे चिरकाल से जानता हूँ।'

'वह उद्दण्ड था।'

'तुम झूठ बोलते हो। मैं तुम्हारे बध की आज्ञा देता हूँ!'

अशोक के नेत्र लाल हो गये। मन्त्रियों ने तलवारें निकाल लीं। कई आदमी शिशुपाल को गालियाँ देने लगे। कई एक ने यहाँ तक कह दिया—न्याय-मन्त्री पागल हो गया है। एक आवाज़ आई—तुम अपना सिर बचाओ। अशोक ने हाथ उठाकर मौन रहने का संकेत किया। चारों ओर फिर वही निस्तब्धता छा गई। न्याय-मन्त्री ने कड़ककर कहा—आपका क्रोध करना सर्वथा अनुचित है। मैं इस समय न्याय-मन्त्री के आसन पर हूँ, और न्याय करने बैठा हूँ। महाराज अशोक की दी हुई मुद्रा मेरे हाथ में है। यदि किसी ने शोर-शार किया तो मैं उसको अदालत के अपमान के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।

'अशोक! तुमने एक राजकर्मचारी का बध किया है। मैं तुम्हारे बध की आज्ञा देता हूँ।'

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे—यह मनुष्य स्वर्ण है, जो अग्नि में पड़कर कुन्दन हो गया है। कहता था—मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह बचन झूठा

न था। इसने कहने की लाज रख ली है। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं, और जिन पर अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाती हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षा-पूर्वक कहा — मैं इस आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।

न्याय-मन्त्री ने एक मनुष्य को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मन्त्री ने खड़े होकर कहा—महाशयों! यह सच है कि मैं न्याय-मन्त्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है, कि एक राजकर्मचारी की हत्या की गई। उसका दण्ड अवश्यम्भावी है; परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दण्ड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है; अतएव मैं आज्ञा देता हूँ, कि महाराज चेतावनी देकर छोड़ दिये जायँ, और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।

न्याय-मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध हो गये। वह कहते थे—यह मनुष्य नहीं देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है और न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्तःकरण की आवाज़ सुनता है और उस पर निर्भयता से बढ़ा चला जाता है और कोई होता, तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खड़ा हो जाता; परन्तु इसने उन्हें 'तुम' कहकर सम्बोधन किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो! उनके शरीर में रोमांच हो गया, सहस्रों नेत्रों ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रों जिह्वाओं ने ज़ोर-ज़ोर से कहा—न्याय-मन्त्री की जय!

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राज-महल में पहुँचे और अशोक के सम्मुख अँगूठी और मुद्रा रखकर बोले—महाराज, यह अपनी वस्तुएँ सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा!

अशोक ने सम्मान-भरी दृष्टि से उनकी तरफ़ देखकर कहा—आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?

'परन्तु श्रीमान्...'

अशोक ने बात काटकर कहा—आपका साहस मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।

न्याय-मन्त्री निरुत्तर हो गये।

---

# अँधेरे में

[ १ ]

लाला भगतराम दफ्तर लौटे, तो चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी। स्त्री के पास जाकर बोले—दफ्तर टूट गया।

मोहिनी को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सिर पर पहाड़ गिर पड़ा हो। कलेजा थामकर रह गई, और भर्राये हुए स्वर में कहने लगी—क्या सरकार तुम्हारा भी ख्याल न करेगी?

भगतराम ने कोट का बटन दबाते हुए उत्तर दिया—आशा नहीं।

'तो कैसे बनेगा?'

'दफ्तर के बाबू एक अर्ज़ी तैयार कर रहे हैं, कि हमारी Service युद्ध की है, हमारे लिए गवर्नमेंट कुछ प्रबन्ध करे; परन्तु आशा नहीं कि इसका कुछ फल निकले।'

मोहिनी ने चिन्तित-सी होकर उँगली ठोढ़ी पर रखी और कहा—चार दिन सुख से बीते; परन्तु जान पड़ता है, फिर वही साढ़े साती आने को है। कब से जवाब मिला?

'अगले महीने से। आज दफ्तर में नोटिस लग गया है।'

'तो कुछ यत्न करो, कोई जगह मिल जायगी।'

'इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है?'

भगतराम ने कोट उतारकर दीवार पर लटका दिया, और चारपाई के एक सिरे पर बैठ गये, मानो वह परदेशी हों। इस समय उनके हृदय में अनेक प्रकार की विचार-तरंगे उठ रही थीं। मोहिनी ने तवे पर रोटी डालकर कहा—हाथ धोये या नहीं, थाली पकड़ लेते।

भगतराम घोर चिन्ता में डूब रहे थे। उनका मन इस समय बहुत भारी हो रहा था। उनको अपना भविष्य अत्यन्त भयानक दिखाई दे रहा था। यह नौकरी थी, जिस पर उनको बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उनका विचार था और

सारे दफ्तर को निश्चय था कि दो मास के अन्दर-अन्दर उनका वेतन डेढ़ सौ हो जायगा। यह विचार उनकी आशाओं का केन्द्र था ; परन्तु यह पता न था कि आशा-किरण इतनी जल्दी दृष्टि से ओझल हो जायगी और चारों ओर अन्धकार फैल जायगा। उन्होंने ठण्डी साँस भरकर कहा—आज तो जी नहीं चाहता।

मोहिनी को पति के साथ असीम प्रेम था। वह उन्हें उदास देखकर व्याकुल-सी हो जाती थी। यह सब सहन कर सकती थी ; परन्तु पति का उदास चेहरा देखकर उसका धीरज हाथ से जाता रहता था। जितना दुःख उनकी नौकरी के छूट जाने से हुआ था, उससे अधिक दुःख इस उत्तर से हुआ। वह उठकर पति के पास आ गई, और प्यार से बोली—क्या सोचते हो ? जिसने पैदा किया है, वह खाने को भी देगा, चिन्ता करने से क्या होगा। बीमार हो जाओगे।

भगतराम की आँखों में आँसू भर आये। रोते हुए बोले—मोहिनी, तुमसे क्या कहूँ ? मेरा चित्त बहुत खराब हो रहा है। परमात्मा जाने प्रारब्ध में क्या लिखा है। जी चाहता है ज़हर खा लूँ।

'क्या कह रहे हो ? कैसे अशुभ वचन मुँह से निकालते हो ?'

'तो बताओ, अब क्या होगा ? किसी को सम्पत्ति होती है, किसी को मकान। हमारे पास फूटी कौड़ी भी नहीं। न ऐसा कोई सम्बन्धी ही है, जिस पर कुछ भरोसा हो। मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता।

मोहिनी के हृदय में इस समय बहुत दुःख भरा हुआ था ; परन्तु पति को दुखी देखकर वह अपना दुःख भूल गई और झूठी हँसी हँसकर बोली—परमात्मा कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर देंगे ! उठो, रोटी खा लो।

भगतराम अब नहीं न कर सके, ज्यों-त्यों रोटी खाने लगे।

[ २ ]

चार मास बीत गये। भगतराम को कोई नौकरी न मिली। दिन-रात उदास रहने लगे। नौकरी के दिनों में, अठवाड़े में दो दिन सिनेमा देखने जाते थे, न मास में एक-दो बार नाटक देखते थे। इन्हें वे जीव के भोगविलास कहा करते थे ; परन्तु अब इस ओर तनिक भी ध्यान न था। उस समय समाचारपत्रों का पढ़ना उनके लिए जी बहलाने की विशेष सामग्री थी, उसके बिना

उनको रोटी न पचती थी ; परन्तु अब समाचार-पत्र का मुँह देखे बिना महीनों निकल जाते थे, और जब कभी देखते 'आवश्यकता' के कालम को पढ़कर छोड़ देते, और बैठे-बैठे अपना मुँह छिपाकर रोने लगते। उनको जहाँ-जहाँ पता लगा, वे वहाँ-वहाँ पहुँचे ; परन्तु उनका दुर्भाग्य, उनसे पहले पहुँच जाता था। किसी जगह नौकरी न मिली।

इसी प्रकार चार मास व्यतीत हो गये। मोहिनी के पास कानों के बुन्दे थे, हाथों की हल्की-सी चूड़ियाँ। इसके अतिरिक्त उसके पास और कोई आभूषण न था। यह आभूषण भगतराम ने बड़े चाव से बनवाये थे। इस चार मास की बेकारी में सब बिक गये ; परन्तु मोहिनी के मुख पर दुःख और चिन्ता की रेखा न थी। वह प्रायः कहा करती—मेरे मन को तो गहने भाते ही नहीं। भगतराम यह सुनते, तो उनके कलेजे में तीर-सा चुभ जाता और दुःख पानी बनकर नेत्रों के रास्ते बह निकलता।

एक दिन भगतराम फूले-फूले घर आये। भूमि पर पाँव न टिकते थे। आते ही बोले—मोहिनी!

मोहिनी का हृदय-कमल खिल गया, समझ गई, कि उन्हें नौकरी मिल गई है—उसने हँसकर कहा—मुझे मालूम हो गया, नौकरी मिल गई है।

'हाँ।'

'वेतन क्या है?'

'डेढ़ सौ!'

मोहिनी के हृदय में सहसा एक शंका उठी। उसने अपनी दृष्टि पति के मुख पर जमाकर पूछा—कहाँ।

भगतराम ने तनिक रुककर उत्तर दिया—मेसोपोटामियाँ में।

मोहिनी की आई प्रसन्नता वापस चली गई, घबराकर बोली—मुझे भी साथ ले जाओगे?

'नहीं।'

'तो फिर मैं यह नौकरी न करने दूँगी।'

भगतराम ने प्यार से कहा—भूखों मरना स्वीकार करोगी ; परन्तु कुछ दिन का वियोग न सहन कर सकोगी।

'यह कठिन है। मैं यहाँ अकेली न रहूँगी।'

भगतराम को इस उत्तर पर क्रोध आ गया; परन्तु दबाकर बोले—आजीविका के लिए सभी कुछ करना पड़ता है। तीन वर्ष की बात है।

'मैं तीन दिन के लिए भी नहीं रह सकती, इनकार कर दो।'

'मूर्ख हो, ऐसा अवसर फिर हाथ नहीं आयेगा।'

'न सही।'

'तो फिर खायेंगे कहाँ से?'

'परमात्मा कोई प्रबन्ध कर देंगे।'

भगतराम क्रुद्ध-से होकर बोले—कर देंगे! घर बैठे हुकूमत चलाना जानती हो। मेरी तरह ख़तरों के धक्के खाने पड़ें, तो होश आ जायँ।

'परन्तु मैं यहाँ अकेली नहीं रहूँगी। यहाँ पचास-साठ की मिल जाय, यही बहुत है।'

भगतराम ने क्रोध से काँपते हुए कहा—और यदि मैं मर जाऊँ तो...

मोहिनी के मुँह का रंग बदल गया। भगतराम को जब मोहिनी को कठोरतर दण्ड देना होता था, तो वह अपने आपको गाली दिया करते थे। इससे मोहिनी के कलेजे पर छुरियाँ चल जाती थीं। मोहिनी के माता-पिता, जब दोनों एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर इन्फ्लुएंज़ा से मरे थे, उस समय मोहिनी ने भगतराम से प्रतिज्ञा कराई थी कि मैं कभी इस तरह अपने आपको गाली न दिया करूँगा। यह प्रतिज्ञा उन्होंने दो-डेढ़ वर्ष तक निभाई; परन्तु इस समय क्रोध के वेश में वही शब्द मुँह से निकल गये। मोहिनी की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं; उसने कम्पित स्वर से उत्तर दिया—तुमने मुझे सुहाग की गाली दी है?

'हाँ दी है, जो कुछ करना हो, कर लो!'

मोहिनी वृक्ष की टूटी हुई शाखा की नाईं चारपाई पर गिर गई, और सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगी। भगतराम ने इसकी परवा न की और बाहर निकल गये। थोड़ी देर बाद उनका क्रोध उतर गया, जिस तरह लोहे का गोला अग्नि से निकलकर शनैः-शनैः ठण्डा हो जाता है। सोचा—मैंने ऐसी बात कहकर उचित नहीं किया, भूल मेरी है। रुपया कमाना आवश्यक है, परन्तु वह किसके

पास रहे। माता-पिता मर चुके हैं, सास-ससुर है नहीं। बेचारी का एक भाई है, वह बात तक नहीं पूछता ; इसका संसार एक मात्र मेरे ही साथ है। अपनी अवस्था देखकर उसने यदि कह दिया, कि मैं अकेली नहीं रहूँगी, तो उसका क्या दोष है। दोष मेरा है, जिसने बिना सोचे-समझे ऐसी नौकरी का विचार कर लिया। लोगों की स्त्रियाँ पतियों का लहू चूस लेती हैं ; परन्तु मोहिनी प्रेम की पुतली है। मुझे उदास देखकर उसका रंग बदल जाता है। वह भूखी रह सकती है, बीमारी को सहन कर सकती है, परन्तु मुझे व्याकुल देखकर उसका धीरज टूट जाता है। यह सोचकर भगतराम लज्जित हो गये और सहमे हुए अपराधी बच्चे के समान घर की ओर रवाना हुए।

समुद्र-पार जाने का विचार रह गया।

[ ३ ]

देश में असहयोग की पुकार उठी। नगर-नगर में जलसे होने लगे। भगतराम बेकार थे। इस क्षेत्र में काम करने लगे। यदि वे नौकरी पर होते, तो इस ओर कदाचित् ध्यान न देते और यदि देते भी, तो बहुत ही साधारण रूप से, परन्तु बेकारी ने इनका सारा समय इधर लगा दिया। वे दिन-रात देश-सेवा के काम में मग्न रहने लगे। शहर के बच्चे-बच्चे के मुख पर उनका नाम था, मोहिनी यह देखती तो गद्गद् हो उठती। वह अपने मन में कहती थी—ग़रीब हैं तो क्या हुआ ? लोग उनको देखकर आनन्द से झूमने लग जाते हैं। मनुष्य आते हैं, चले जाते हैं। धन्य उन्हीं का जन्म है, जो संसार में कुछ पुण्य-कर्म कर जाते हैं। भगतराम स्त्री के यह विचार सुनते तो फूले न समाते और कहते—मोहिनी ! मुझे तुझ पर मान है।

परन्तु ऐसा करते हुए भी ख़र्च की तंगी दम न लेने देती थी। तीसरे पहर का समय था। दोनों बैठे हिसाब कर रहे थे। निर्धन लोगों का यही जी-बहलाव है। भगतराम ने पूछा—अब और कितने रुपए बाक़ी हैं ?

मोहिनी ने रूमाल खोलकर नोट और रेजकी को गिना और कहा—तैंतीस रुपए सवा सात आने।

'बस !'

'इसके सिवा एक पैसा भी नहीं।'

'अब ख़र्च गिनो।'

मोहिनी ने कुछ सोचकर कहा—पन्द्रह रुपये दो आने मकान का किराया, नौ रुपए छः आने हलवाई का हिसाब।

'साढ़े चौबीस रुपये!'

'बजाज से कपड़ा मँगवाया था, उसके दस रुपए देने हैं।'

'साढ़े चौंतीस तो यही हो गये। सारा महीना सिर पर खड़ा है। लकड़ियाँ, आटा, घी, चने, दाल सब कुछ लाना है।'

'क्या कहूँ, दो गहने थे, वे भी बिक गये।'

'अच्छा एक काम करो।'

'क्या?'

'किराया इस महीने न दो, अगले महीने परमात्मा कोई उपाय कर देगा।'

'बात तो ठीक है. परन्तु मालिक-मकान क़साई के समान आकर जब दरवाज़े पर खड़ा हो जाता है, तो मेरा कलेजा काँप उठता है।

इतने में नीचे से किसी ने पुकारा—लाला भगतराम जी!

'आया।'

मोहिनी ने पूछा—कौन है?

'वही मालिक-मकान। लाओ किराया दे दो, उसके साथ बात करने का मुझमें साहस नहीं।'

मोहिनी ने पन्द्रह रुपये दो आने उठाकर दे दिये। भगतराम नीचे चले गये और रुपये मालिक-मकान को दे दिये; परन्तु अभी स्टाम्प के पीछे लिख ही रहे थे कि हलवाई ने आकर राम-राम किया। यह राम-राम बन्दूक की गोली से कम न था। भगतराम का लहू सूख गया। बोले—क्यों, रुपये चाहिएँ?

'हाँ बाबूसाहब, आज दस तारीख़ हो गई।'

भगतराम ने ऊपर आकर स्त्री से कहा—दूसरा यमदूत भी आ गया है।

'कौन, हलवाई?'

'हाँ; नीचे खड़ा है। लाओ उसके नौ रुपये छः आने भी दे दो।'

मोहिनी ने बेबसी से वह भी दे दिये। हलवाई सन्तुष्ट होकर चला गया; हिसाब फिर होने लगा। भगतराम ने आगामी मास के लिए दूध, शकर, बूट

की पालिश, सिर का तेल सब उड़ा दिया, फिर भी चालीस रुपये की और आवश्यकता थी। यह कहाँ से आयेंगे? पति-पत्नी दोनों बहुत देर तक सोचते रहे; परन्तु कोई उपाय न सूझा, जैसे अँधेरे में रास्ता नहीं मिलता। भगतराम ने पत्नी से कहा—अच्छा, लाओ आटा तो ले आऊँ, शेष वस्तुओं का प्रबन्ध हो जायगा।

अँधेरा हो गया था, मोहिनी ने लालटेन जलाई और एक टीन और चार रुपये पति को दे दिये। भगतराम बाहर निकले और बनिये की दूकान पर पहुँचे; परन्तु अभी आटा तौला ही जा रहा था कि बजाज का लड़का सामने से गुज़रता दिखाई दिया, रही-सही त्रुटि भी पूरी हो गई, भगतराम ने मुँह फेर लिया; परन्तु बजाज का लड़का उन्हें देख चुका था, पास आकर बोला—ड़ाम-ड़ाम लालाजी।

खास लाहौर के लोग 'र' को 'ड़' बोलते हैं।

भगतराम ने लज्जित सा होकर उत्तर दिया—राम-राम महाराजजी।

'नावाँ नहीं आया।

'आ जायगा।'

'महाराज यह ठीक नहीं, तीन महीने हो गये, इस तरह दूकान का काम नहीं चलता।'

भगतराम ने पीछा छुड़ाने के विचार से कहा—फिक्र न करो, परसों म आप ही पहुँचा दूँगा।

ख्याल रखना महाराज, ज्यादा कहने को जी नहीं चाहता।'

भगतराम को चारों ओर अन्धकार दिखाई दिया। उन्होंने सोचा था कि बनिये से आटा उधार ले आयेंगे; पर साहस न हुआ। चुपचाप रुपये देकर आटा ले आये। सुना था—कष्ट जब आया करते हैं, इकट्ठे होकर आते हैं। अब प्रत्यक्ष देख लिया।

[ ४ ]

रात आधी जा चुकी थी; मगर भगतराम के नेत्रों में नींद न थी। वे बारम्बार सोचते कि अब क्या होगा। ख़र्च के लिए पास पैसा नहीं, नौकरी कोई मिलती नहीं, निर्वाह कैसे होगा। दूध बन्द कर दिया, निर्वाह हो सकता है। तेल सिर पर न मला, निर्वाह हो सकता है; परन्तु आटे और दाल के बिना तो

एक दिन भी कटना कठिन है। उनको अपने घर पर एक भयानक भविष्य पैर फैलाये हुए दिखाई दिया। सारी रात करवटें लेते काट दी। प्रातःकाल हुआ। मोहिनी की पलकें भी भारी हो रही थीं। रात-रात भर वह भी जागती रही थी; परन्तु उसने यह बात प्रकट नहीं की थी। यह स्त्री का स्वभाव है, वह कष्ट उठाती है; परन्तु उसे प्रकट नहीं करती। वह इसे स्त्रीत्व से गिरा हुआ समझती है।

मोहिनी अपने घर के कामों में लगी हुई थी, भगतराम अपने भविष्य पर सोच रहे थे। इतने में डाकिये ने आवाज़ दी—चिट्ठी ले जाओ।

भगतराम नीचे जाकर चिट्ठी ले आये और चारपाई पर बैठकर पढ़ने लगे। जब पढ़ चुके, तो चकित-से रह गये, मानो कोई गोरख-धन्धा हो, जो उनके खोले न खुलता हो।

मोहिनी ने पूछा—क्या है?

'सरकारी चिट्ठी है'

'क्या लिखा है?'

'जब दफ्तर टूटा था, तो दफ्तर की ओर से एक सर्क्यूलर निकला था कि हमारे आदमी यदि कहीं आवश्यकता हुई, तो ले लिये जायँ। उसी के उत्तर में एक जगह से मेरी माँग आई है। ८५) रुपया वेतन है।'

भगतराम को इससे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। उनका अन्तः करण कह रहा था कि इस समय जब कि देश में असहयोग ने ज़ोर दे रखा है, सरकारी नौकरी करना जातीय पाप है। इतना ही नहीं, वे इस पर एक-आध बार वक्तृताएँ भी दे चुके थे, अब किस मुँह से नौकरी करेंगे। फिर भी उनको यह आशा अवश्य थी कि, मोहिनी यह समाचार सुनकर उछल पड़ेगी। उसके मुख पर आनन्द की लाली छा जायगी; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मोहिनी जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़ी रह गई और कुछ देर चुप रहकर बोली—कर लोगे?

भगतराम ने पूछा—तुम्हारा क्या विचार है?

'मेरी तो यह सम्मति है कि अस्वीकार कर दो।'

भगतराम की नस-नस में आनन्द की लहर दौड़ गई। मोहिनी का हृदय इतना ऊँचा है, इतना देश-प्रेम से भरा है कि भयानक दारिद्रय के थपेड़ों में भी इस प्रकार अचल, अटल और अडोल रह सकेगी, उन्हें इसकी आशा न

थी। वह इस समय तक इतना ही जानते थे कि वह एक अत्यन्त सती-साध्वी और प्रेम की पुतली पत्नी है; परन्तु देशभक्ति का भाव उस पर इतना काम कर चुका है, उसकी उन्हें कल्पना तक न थी। उन्होंने उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखकर कहा—मोहिनी! तुमने आज मेरी आँखों से पर्दा हटा दिया है।

'तो यह नौकरी न करोगे?'

'नहीं।'

मोहिनी रोती हुई भगतराम के पैरों से लिपट गई। यह आँसू आनन्द के आँसू थे।

भगतराम ने नौकरी करना अस्वीकार कर दिया। यह बलिदान कितना ऊँचा है, कितना माननीय। लोग प्रशंसा और नाम के लिए सिर कटवाते देखे गये हैं। वाह-वाह के लिए धन-दौलत लुटाते सुने गये हैं। उनके बलिदान पतंगों के बलिदान के समान हैं, जो प्रकाश में सबके सामने जलते हैं। लोग देखते हैं, वाह-वा करते हैं, कवि उनकी प्रशंसा में गीत लिखते हैं; परन्तु यह बलिदान अन्धकार में हुआ, किसी कान ने नहीं सुना, किसी आँख ने नहीं देखा। किसी पुरुष ने वाह-वा के शब्द नहीं कहे। यह बलिदान दाने का बलिदान है, जो अन्धकार में पृथ्वी के अन्दर धँस जाता है और अपने-आपको मेट कर अपने-जैसे बीसों उत्पन्न कर देता है।

---

# बुढ़ापा

[ १ ]

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूल हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूट कर रो रही है। उस 'खोने' में दुःख नहीं, सुख था ; सुख ही नहीं स्वर्ग भी था। इस 'पाने' में सुख नहीं है ; दुःख ही नहीं नरक भी है ! लड़कपन का खोना—वाह ! वाह !! बुढ़ापे का पाना—हाय ! हाय !!

लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता था—मैया, मैं तो चन्द खिलौना लैहों। जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—दौर में साग़र रहे गर्दिश में पैमाना रहे ! और, अंगं गलितं पलितं मुण्डम् वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है—अब मैं नाच्यों बहुत, गोपाल !

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा-हा-हा है ? यह सब सुफेद झूठ है, कोरी कल्पना है, धोखा है, प्रवञ्चना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस, नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो, मेरी लागरी से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को, बतलायेंगे कि, जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है ; हँसी नहीं, रोदन है ; स्वर्ग नहीं, नरक है !

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया ? —जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक कभी धन के पीछे कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी नाम के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया ?—वार्द्धक्य के लिफ़ाफे में सर्वनाश, पतन और—और अब वह बुढ़ापा घण्टों नाक दबाकर ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खननन का ख़ज़ाना इकट्ठा कर, बेटों की 'बटालियन' और बेटियों की 'बैटरी' तैयार कर कौन-सा बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा ?—वही सर्वनाश,

वही पतन ! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोंककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है—प...त...न !

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिनमणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी उषा से होली खेल-खेलकर गंगा की बेला को, तरंगों को, मन्द मलयानिल को, नीलाम्बर को, दसों दिशाओं को और भगवती प्राची के अञ्चल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रँगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर...मगर...?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित करनेवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन-भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है ? सर्वनाश, पतन ! उस दूर—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चाण्डाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओत-प्रोत रहता है !

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञान होता है, कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

[ २ ]

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की—बातों के दायरे से आगे बढनेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है यह कह देना सहल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं ; पर पतन

और सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना, केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नज़र मुझ पर पड़ी। उसमें से एक ने कहा—

'हट जाओ, हट जाओ! हनुमानगढ़ी से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है। पूरा किष्किन्धावासी मालूम पड़ता है।'

बस; बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा—

'नालायकों! आज कमर झुक गई। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गये हैं। आज दुनिया की तस्वीरें भूले हुए स्वप्नकी तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है; मगर हमेशा यही हालत नहीं थी।'

'अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो। तुम क्या जानो, कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो, कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा, तो जवान होता है और प्रत्येक जवान, अगर जल्द ख़त्म न हो गया, तो एक-न एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे, तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही, अपना पेट पालने के लिए, घर से बाहर निकाल दिये जायँ। संसार से, दादा के माल पर फातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।'

'अब भी सौ में निन्यानवे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदारबने हुए हैं। अब भी हजार में नौ सौ साढ़े निन्यानवे शौकीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, ओटो, लवेण्डर, सोप, पाउडर, पालिश, वेश्या की फर्मायश और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमज़ोर हृदयवाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं...'

'फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?'

मगर, उन लड़कों के कान तक मेरी दुहाई की पहुँच न हो सकी। सबने, एक स्वर से ताली बजा-बजाकर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

'भागो! भागो!! हनुमानजी खावँ-खावँ कर रहे हैं। ठहरोगे, तो किटकिटाकर टूट पड़ेंगे, नोच खाने पर उतारू हो जायँगे।'

लड़के हू-हू, हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई, जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न!

[ २ ]

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या हजो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो, तो सामने आये। मैं जुआ खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफ़ेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन-भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो सामने आये, उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो, तो आगे बढ़े, मुँह माँगा दूँगा। कह चुका हूँ निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।

हर साल बसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढा रसाल माथे पर मौर धारण कर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर 'कुहू-कुहू' करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद कीसरिता में सब कुछ, भूल कर, विहार करने लगते हैं, खिल-खिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, लिपटते हैं, लिपटाते हैं—दुनिया के पतन को उत्थान का और सर्वनाश को मंगल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका-सा मुँह लिये,

कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इसी लीला को टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।

हर साल मतवाली वर्षा-ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—काले मेघा पानी दे! जवानी पगली होकर गाने लगती है—आई कारी बदरिया ना। और बुढ़ापा? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख के भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता। सामने को परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते! तड़प-तड़पकर रह जाते हैं; उफ़!

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हाँ हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्त-भोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो, तो इस बूढ़े की सहायता करे। मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार फिर किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी;
जानति हौ तुम हूँ ब्रजरीति न प्रीति रहे कबहूँ पल ढाँकी;
'ठाकुर' कैसहू भूलत नाहिनै ऐसी अरी वा बिलोकनि बाँकी;
भावत ना छिन भौन को बैठिबो घूँघट कौन को? लाज कहाँ की?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे-बिठाये, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ; परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर, प्रार्थना करूँ—

रोज न आइयै जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतो सुन लीजिये;
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिनु देखे सु कैसे कै जीजिये;

'ठाकुर' लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये ;
दूसरे, तीसरे, पाँचयें, सातयें,
आठयें तौ भला आइबो कीजिये ।

[ ४ ]

मगर, नहीं। वार्द्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज़ लाइलाज है। यह दर्द ऐसा है, कि सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुट-कारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है, जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अमर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोयं'—अगर वैद्य है तो एक—'नारायणो हरिः'।

फिर अब देर काहे की, प्रभो? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भव-सागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुण-रहित है, प्रकाश-हीन है। इसका शीघ्र ही नाश करो, पञ्चत्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से, निर्माण हो; फिर से नये सिरे से सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से जन्म हो; फिर से, नये सिरे से, शैशव हो; फिर से, नये सिरे से यौवन हो; फिर से, नये सिरे से, भोग हो, विलास हो, सुख हो, आमोद हो, विनोद हो, कविता हो, प्रेम हो, पागलपन हो, मान में अपमान और अपमान में मान हो। फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अँगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने! कि लोक भूल जाय, परलोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, यह भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ और तुम—ईश्वर भूल जाओ! तब, जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर, अब देर काहे की प्रभो! दया करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो।

---

श्रीराजेश्वरप्रसादसिंह

# आदर्श

[ १ ]

नाई के हथियारों में छुरे का जो स्थान है, समाज-सुधारक के अस्त्रों में उसकी जबान का वही स्थान है ! सुधारक में चाहे और कोई गुण हो या न हो, वाक्शक्ति अत्यधिक होनी चाहिए। बाबू चोखेलाल इस लोक-प्रिय सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित थे। बाबू साहब के जीवन का अन्तिम ध्येय समाज सुधारक ही था। इसीलिए दफ्तर के काम से जो समय बचता उसे आप अपनी तर्क-शक्ति बढ़ाने में ही लगाते थे। मित्र-मंडली में आपकी जबान खुलते ही दूसरों की बन्द हो जाती थी। अपनी बातों से आप अपने मित्रों को मुग्ध कर रखते थे। आपको इस बात का गर्व था कि वाद-विवाद में आपको कभी कोई पराजित नहीं कर सका। इस बात पर किसी को सन्देह न था, सन्देह करने का किसी को अधिकार भी न था; किन्तु वाह्य संसार का यह विजयी योद्धा घर के सीमा प्रान्त में पैर रखते ही भीगी बिल्ली बन जाता था। घर में तर्क-वितर्क से काम न चलता, यहाँ न उक्ति काम देती, न प्रमाण। पशु बल का भी यहाँ गुज़र न था। विनय का जवाब व्यंग में मिलता, टेढ़ी नज़र का आँसूओं में। बाबू साहब पर व्यंग का तो कुछ असर न होता; क्योंकि इससे निश्चय में दृढ़ता आती थी; किन्तु आँसू देखते ही, आप घबड़ा उठते थे; क्योंकि ये निर्दिष्ट पथ से विचलित करते थे।

सन्ध्या का समय था। बाबू साहब स्त्रियों को मेले-ठेलों में ले जाने की कुरीति पर बहस करके अभी घर लौटे थे। आपकी सहधर्मिणी रामप्यारी देवी रसोई घर में तरकारी बना रही थीं, पति को देखते ही कलछुली चलाती हुई बोलीं—कल दशहरा है।

चोखेलाल ने अन्यमनस्कता से कहा—सुनता तो हूँ।

'सुन तो तुम हमेशा लेते हो। हाँ, याद रखना नहीं जानते। एक कान से सुना, दूसरे से निकाल दिया।

बाबू साहब समझ गये कि यह किस प्रसंग की भूमिका है। उन्होंने सतर्क होकर दृढ़ता से कहा—तो क्या हर बात की माला जपता रहूँ कि याद रहे?

'माला तुम क्या जपोगे। भगवान् का नाम लेने के लिए तो जपते ही नहीं, यह तो मामूली बात है। अब तो धरम-करम दुनिया से उठ ही गया। अब क्या है?'

चोखेलाल को दम्पति-जीवन से केवल एक शिकायत थी, और वह थी रामप्यारी की मानसिक संकीर्णता। जिस विषय पर देवीजी के अपने स्वतंत्र विचार थे, उस पर बाबू साहब को अपने निजी विचार रखना परेशानी में पड़ना था। स्त्री का दृष्टि-क्षेत्र विस्तीर्ण करने के लिए पतिदेव ने अक्सर प्रयत्न किये; परन्तु कभी सफल नहीं हुए। धर्म के विषय पर चोखेलाल रामप्यारी से आज तक किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सके थे; इसीलिए यह प्रसंग छिड़ते ही उनके हृदय में रामप्यारी के प्रति अप्रसन्नता का भाव उठा था। अब रामप्यारी के व्यंग-वाक्यों ने अप्रसन्नता को क्रोध में परिणत कर दिया। चोखेलाल ने चिढ़कर कहा—मैं तुमसे धर्म का सबक़ पढ़ने नहीं आया हूँ।

आग में जल का एक छींटा पड़ा। रामप्यारी ने झमककर कहा—तुम्हें क्या पढ़ावेगा कोई, तुम तो आप ही सब पढ़े बैठे हो।

बाबू साहब झल्लाकर बोले—तुम्हारे मारे नाक में दम है। तुम्हारी जो बातें हैं, सब बे-सिर-पैर की, न इधर चलती हो, न उधर।

'मेरी बातें तो सब बे-सिर पैर की होती हैं। और तुम्हारी तो सब अजूबा होती हैं।'

'भई, जी न खाया करो, कहो घर में आया करूँ, कहो न आया करूँ?'

'हाँ, घर में क्यों आओगे? यहाँ तुम्हारा बैठा ही कौन है?'

चोखेलाल ने लालटेन उठाई, और बाहर जाकर अपने कमरे में प्रवेश किया। लालटेन एक ओर रखकर उन्होंने एक लम्बी साँस ली, कपड़े उतारे और तख्त पर पड़ी हुई चटाई पर लेटकर छत की ओर शून्य दृष्टि से ताकने लगे। आज उन्हें नवयौवन के उन दिनों की बात याद आने लगी, जब वे एक ऐसी संगिनी की कल्पना करते थे, जो जीवन-पथ पर उनके क़न्धे-से-कन्धा मिलाकर चल सके! जिन स्वप्नों की सृष्टि में यौवन की सारी शक्ति खर्च हो जाती है

और कदाचित् जिनकी पूर्ति के द्वारा मनुष्य को अक्षय आनन्द प्राप्त हो सकता, वे इतने अनित्य क्यों हैं? उस आत्म-वेदना की दशा में इस प्रश्न पर विचार करते-करते उन्हें ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो संसार में उनका जन्म व्यर्थ हुआ। उनके अन्तर्देश मे जीवन के प्रति उदासीनता का तिमिर छा गया।

कार्य-सिद्धि के लिए रामप्यारी ने जिस उपाय की शरण ली थी, उसके अनौचित्य का अब उसे ज्ञान हुआ; किन्तु अपनी भूल से उसे पश्चात्ताप ज्ञान हुआ; पति पर क्रोध आया। विजयी सैनिक पराजित शत्रु की अवहेलना पर ध्यान नहीं देता; किन्तु असफल एक एक बात याद करता है और खीझ उठता है! क्या स्त्री की मान-रक्षा करना पति का धर्म नहीं? फिर वे पग-पगपर उसकी अवहेलना क्यों करते हैं, सीधे-मुँह बात क्यों नहीं करते? रामप्यारी रोटी सेंक रही थी। कुछ रोटियाँ जल गईं। कुछ कच्ची रह गईं। जैसे-तैसे खाना बनाकर वह रसोई से बाहर निकली, स्नान किया, साड़ी बदली, और सहन में पड़ी हुई चौकी पर बैठकर पति की प्रतीक्षा करने लगी; किन्तु जब इस तरह पन्द्रह मिनट बीत गये और शत्रु की ओर से सन्धि का कोई प्रस्ताव न हुआ तब स्वयं दबना उचित जान पड़ा। उसे भय हुआ कि कहीं बिना खाये ही सो न जायँ। एक मिनट में वह बाहरी बैठक में थी।

'आज खाना न खाओगे क्या?'

'नहीं'—दीवार की ओर मुख किये हुए चोखेलाल ने उत्तर दिया।

'क्यों?'

'भूख नहीं है।'

'क्यों भूख नहीं है?'

'ऐसे ही।'

'तो क्या बिलकुल न खाओगे!'

'नहीं।'

'अच्छी बात है, न खाओ।'

आवेश में आकर रामप्यारी कमरे से बाहर चली गई। वह जानती थी कि भूख न होने की बात एकदम झूठ है; किन्तु इस समय अनुनय-विनय न कर सकी। इस समय विशेष नम्रता दिखाना अपनी हेठी कराना होता। क्या उसे

पति से शिकायत का मौक़ा न था ? उसे ऐसा जान पड़ने लगा, मानो इस समय उसका घोर अपमान किया गया। रामप्यारी की आँखों में आँसू छलक आये। वह शयनागार में गई, पलँग पर गिर पड़ी और तकिए में मुँह छिपाकर फफक-फफक-रोने लगी। उसके प्रताड़ित हृदय पर रोष और गर्व के भाव चोटें करने लगे। वे उसे कौन-सा सुख दे रहे हैं, जिसका ऐसा कुटिल मूल्य लेते हैं ? आज तक एक छल्ला भी नहीं दिया। जो गहने मायके से लाई थी, उन्हें भी तो नहीं पहनने पाती। फिर उन्हें किस बात का तमतमा है ? उसे ऐसे पति को सौंपकर उसके माता-पिता ने उस पर कैसा घोर अन्याय किया ?

चोखेलाल का विचार था कि रामप्यारी अनुनय करेगी, इसीलिए उन्होंने अन्यमनस्कता का भाव धारण किया था। यह बात न थी कि उन्हें भूख न रही हो, पेट में चूहों की दौड़ बराबर जारी थी ; किन्तु रूठा हुआ बालक बिना मनाये कैसे घर जाय ? पाँसा उलटा पड़ा। उसने विनय न की, यों ही चली गई। तब उन्हें स्त्री के अन्तिम वाक्य याद आये—अच्छी बात है, न खाओ। इन वाक्यों मे जो चेतावनी छिपी हुई थी, उसमें सन्धि स्थापना की इच्छा नहीं, बल्कि पुनर्द्वन्द्व की चुनौती थी। चोखेलाल उन आनेवाले दिनों की कल्पना करके घबरा उठे, जब एक ही घर में बेगानों की तरह रहेंगे, जब रामप्यारी एक ओर जायगी और वह दूसरी ओर, जब इच्छा रहते हुए भी वे एक दूसरे से वार्तालाप न कर सकेंगे, जब घर की शान्ति-श्री उठ जायगी और गृहस्थी एक-दम चौपट हो जायगी।

दस मिनट के बाद चोखेलाल शयनागार के सामने गये। रामप्यारी का ध्यान आकृष्ट करने के लिए कमरे में प्रवेश करते समय उन्होंने खुले हुए किवाड़ को धक्का दिया ; किन्तु, वह दीवार की ओर मुख किये हुए लेटी ही रही, हिली भी नहीं। चोखेलाल समझ गये कि वह सो नहीं रही है. वह एक क्षण कमरे के मध्य में खड़े-खड़े पलंग पर मुँह के बल पड़ी हुई रामप्यारी की ओर देखते रहे, फिर धीरे-धीरे मुस्कराते हुए उस पलंग की ओर बढ़े जिस पर नन्हा शिशु रमेश बाल्यकाल की मीठी नींद के मज़े ले रहा था। पलग के निकट पहुँचकर चोखेलाल ने चुटकी काटी। रमेश चीख उठा। रामप्यारी फिर भी जैसी-की तैसी पड़ी रही। रमेश को गोद में लेकर चोखेलाल उसे चुमकारने और

थपकियाँ देने लगे, फिर रामप्यरी के पलंग पर जा बैठे। रमेश पिता की गोद से उतरकर माता की ओर रोता हुआ लपका और माँ की पीठ से लिपटकर उछलने लगा। रामप्यारी ने दीवार की ओर करवट ली और दाहिना हाथ पीछे ले जाकर रमेश को सामने खींच लिया। माँ के पास जाते ही रमेश शान्त होगया। स्त्री के कन्धे पर हाथ रखकर पतिदेव ने पूछा—खाना न खिलाओगी, रमेश की माँ!

पति का हाथ झटककर रामप्यारी ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—मुझे तुम्हारे खाने की ज़रूरत नहीं है।

रामप्यारी को बलपूर्वक अपनी ओर खींचकर चोखेलाल ने देखा, उसकी आँखों से अश्रुधाराएँ बह रही हैं। तब उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और अपनी धोती के कोर से उसके आँसू पोंछते हुए बोले—तुम तो ज़रा-ज़रा-सी बात में रोने लगती हो।

रामप्यारी ने सिसकते हुए कहा—आदमी इत ...नी हँसी कर...ता है कि हँसी आ...ये न कि...

'छेड़ा तो पहले तुम्हीं ने था?'

रामप्यारी चिटककर तीव्र स्वर में बोली—मैंने तो नहीं, तुमने पहले छेड़ा था।

मामला फिर बढ़ता देखकर चोखेलाल ने नीति से काम लिया। खैर, जाने दो, मेरा ही क़सूर सही। इन बातों में क्या रक्खा है?

'मैं तो कुछ नहीं कह रही हूँ। तुम्हीं फिर छेड़ रहे हो, और अभी फिर मुझी को दोषी ठहराओगे।'

'अच्छा बाबा, मैं अपना कसूर माने लेता हूँ। सारा दोष मेरा है, तुम बिलकुल निर्दोष हो, अब तो खुश हुई?'

विजय गर्व से रामप्यारी की आँखें चमकने लगी, और उसके मुख-मण्डल पर एक दिव्य मुसकान नृत्य करने लगी। समझौता हो गया!

घर में फिर शांति राज्य करने लगी। भोजन हो चुका था, चोखेलाल बैठक में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। इस समय उनकी दशा उस जवान माँझी

की-सी थी, जो अपनी छोटी सी डोंगी में बैठा हुआ डांड़ चलाता और मलार गाता हो! उसके चेहरे से आनन्द और सन्तोष की रेखाएँ प्रस्फुटित हो रही थीं। रामप्यारी रमेश को लेकर आई और उसे पति की गोद में बिठा दिया। चोखेलाल बच्चे के साथ खेलने लगे। कभी उसे चूमते, कभी उछालते, कभी हँसते। रमेश भी कभी हुक्के की निगाली के सहारे खड़े होने की कोशिश करता, कभी पिता की मूँछें पकड़कर खींचता, कभी किलकारियाँ मारता हुआ माता की ओर लपकता। रमेश को आँचल में ढँककर रामप्यारी ने कहा—कल मेला देखने के लिए क्या कहते हो? लिवा चलोगे न?

फिर वही बात छिड़ गई! किन्तु साँप का काटा रस्सी से भी डरता है। चोखेलाल ने इस बार नम्रता से कहा—लिवा चलने को तो मैं तैयार हूँ; लेकिन मेरी समझ में औरतों का मेलों में जाना ठीक नहीं होता। और फिर इस साल झगड़ा हो जाने का भी डर है।

'सभी तो जा रहे हैं। प्यारेलाल का सारा घर जा रहा है। कोई मेरा ही झब्बा नोच लेगा?'

'अगर दूसरे भाड़ में कूदें, तो तुम भी कूदो! यह कहाँ की बुद्धिमानी है?'

'चाहे जो हो, मैं तो ज़रूर जाऊँगी?'

'अच्छी बात है, चलो। तुम तो हमेशा अपने मन की करती हो।'—रामप्यारी की इच्छा-शक्ति से युद्ध करने के लिए चोखेलाल के पास न तो अब साहस था, न बल।

चोखेलाल बड़े धर्म-संकट में पड़ गये। एक ओर चिर-सञ्चित सिद्धान्त था, दूसरी ओर स्त्री की मान-रक्षा का विचार। एक से फिरने में जग हँसाई थी, दूसरे से मुँह तोड़ने में नित्य की बमचख, आये दिन के ताने और उलहने। बाह्य-संसार में परास्त होने पर घर में शरण मिल सकती है; किन्तु घर के निर्वासित को बाहर कोई नहीं पूछता। वे कोई ऐसा सुगम उपाय सोचने लगे, जिससे न सिद्धान्त की अवहेलना हो न रामप्यारी की।

[ २ ]

विजयादशमी का दिन था। दिन के तीन बजे थे। इक्कों के अड्डे पर बाबू चोखेलाल एक इक्केवाले से किराया तय कर रहे थे। इक्के-वाले ने कहा—

बाबू साहब बारह आने से कम न होगा। जी चाहे चलिए, न जी चाहे न चलिये।

'बारह आने तो, भाई बहुत होते हैं। आठ आने लो।'

'नहीं बाबू, आज बारह आने से कम नहीं हो सकता।'

इतने में एक साहब दूर ही से—'इक्केवाले चौक चलोगे? चौक चलोगे?' की हाँक लगाते हुए आते दिखाई दिये। निकट पहुँचकर आगन्तुक सज्जन ने चोखेलाल को नमस्कार किया। चोखेलाल ने नमस्कार का उत्तर दिया। अब आगन्तुक महाशय ने दाँत निकालकर पूछा—कहाँ की तैयारी है, जनाब?

चोखेलाल ने मुँह बनाकर उदासीनता से कहा—जरा हकीमजी के यहाँ जाना है।

'क्यों, क्यों? भई, ख़ैरियत तो है?'

'घर में कुछ तबियत ख़राब हो गई।'

चोखेलाल की ओर एक बार अविश्वास से देखकर वे महाशय आगे बढ़े, और एक दूसरे इक्केवाले से बातें करने लगे। चोखेलाल की जान छूटी। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वे इक्के पर सवार हुए, और घर की ओर चले। वे नवयुग के क्रान्तिकारी विचारों के अनुयायी अवश्य थे: किन्तु इस समय उनके हृदय में शक़ जगह करने लगा। इस मुठभेड़ में उन्हें भावी अमंगल की सूचना दिखाई देने लगी।

× × ×

राम-दल निकलने का समय हो गया था। सब्जीमण्डी के आस-पास कुछ गुण्डे बुल्ले बदले, लट्ठ लिए, पान चबाते हुए कानाफूसी करते दिखाई देते थे। जिन सड़कों पर होकर दल निकलनेवाला था, उन पर इस समय ऐसी भीड़ थी कि दुर्बल मनुष्य एक बार उसमें फँसकर न हिल-डोल सकता था, न बाहर ही निकल सकता था। नगर के हिन्दुओं की सारी धार्मिकता सिमिटकर इस भीड़ में आ गई थी। जो हिन्दू मतभेद के कारण इसमें सम्मिलित न थे, वे इन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में या तो पक्के नास्तिक थे या 'किरस्टान!'

जब प्रतीक्षा करते-करते दर्शकों की शान्ति का अन्त हो गया, तब दल निकला। जयकारों की गगन-भेदी ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। इस वर्ष कोई

नई बात न थी। वही घोड़े थे, वही ऊँट थे, वही चौकियाँ, वही बाजे, वही हाथी। जिस हाथी पर रामचन्द्रजी सवार थे, उस पर चारों ओर से निरन्तर पुष्प-वर्षा हो रही थी। फूलों की जो छड़ियाँ भाग्यवश महाराज के श्रीचरणों से ढुलककर नीचे गिर पड़ती, उन पर भक्त-वृन्द इस प्रकार गिरते थे, मानों रत्नों पर टूट रहे हों।

दल निकल गया। रामप्यारी का हाथ पकड़े हुए बाबू चोखेलाल हकीम निहालचन्द की ऊँची छत से नीचे सड़क पर उतर आए। यहाँ अभी काफ़ी भीड़ थी। इक्का लाने की गुंजाइश न थी, न देर हो जाने पर सवारी पाने की आशा; इसलिए इसी समय अड्डे की ओर चलना तय पाया। आगे-आगे भीड़ चीरते हुए चोखेलाल चले जाते और पीछे-पीछे रमेश को गोद में लिए, पति का हाथ पकड़े हुए रामप्यारी। दोनों धक्के-पर-धक्का खा रहे थे। अभी वे सौ क़दम गये होंगे, कि सहसा उन्हें सैकड़ों आदमी गलियों से निकल-निकलकर इधर-उधर भागते हुए दिखाई देने लगे। इन्हीं भागते हुए आदमियों में वे लोग दिखाई देते थे, जो अभी थोड़ी देर पहले दल के साथ लट्ठ उछालते, अकड़ते चले जाते थे! चारों ओर चिल्लाहट शुरू हो गई—भागो, भागो! चल गई, चल गई! हिन्दू-मुसलमान में चल गई!

पीछे से भीड़ का रेला आया और रामप्यारी के हाथ से पति का हाथ छूट गया। डूबते हुए तैराक का सहारा छिन गया।

रामप्यारी मसल उठी, उसके पैर लड़खड़ाने लगे, चक्कर-सा आने लगा; और निकट था कि नीचे गिर जाय और सहस्रों बदहवास पैरों के नीचे पड़कर कुचल जाय कि सहसा उसे एक दीवार का सहारा मिल गया। वह दीवार से सटकर खड़ी हो गई, और भयातुर नेत्रों से भागते हुए मनुष्यों में पति को खोजने लगी। उसके सूखे हुए मुख से बार-बार निकल रहा था—हाय राम अब क्या करूँ? शिशु रमेश जग पड़ा, और माता से लिपटकर आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगा। इस प्रकार के धार्मिक झगड़ों में अबलाओं पर बदमाशों द्वारा किए गये अत्याचारों की भयोत्पादक कथाएँ रामप्यारी सुन चुकी थी। आज ऐसी शोचनीय परिस्थिति में पड़कर उसकी दुष्कल्पना जाग्रत हो गई और उन अतीत दुर्घटनाओं के भयावह दृश्य उसके नेत्रों के सम्मुख फिरने लगे।

चोखेलाल का कहीं पता न था। हताश होकर, हृदय को मज़बूत करके, मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना करती हुई, रामप्यारी बचाव का उपाय सोचने लगी। सामने सेठों की कोठियाँ थीं; किन्तु वहाँ शरण मिलने की आशा न थी, सबके फाटक बन्द थे। सहसा उसकी बाईं ओर दृष्टि गई, एक पतली सूनी गली दिखाई दी। उसे ऐसा ज्ञात हुआ मानों ईश्वर ने उनके दुःख निवारणार्थ मार्ग निकाल दिया हो। उसके हृदय से एक बोझ-सा उठ गया, पैरों में पर लग गये। भीड़ अब छँट गई थी। वह शीघ्रता से गली में घुसी। थोड़ी दूर पर उसे रोशनी दिखाई दी। वह ठिठक गई। आगे बढ़ना ठीक है या नहीं? न-जाने शत्रु हों कि मित्र; किन्तु बढ़ने में भी भलाई न थी, गली में कोई बदमाश घुस आया तब? फिर वह जी कड़ा करके धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी।

[ ३ ]

भीड़ के रेले में पैर उखड़ जाने पर कठिनाई से जमते हैं। बाबू चोखेलाल ने जब होश सँभाला, तब मण्डी के पास थे। उन्होंने देखा—सड़क की मोड़ पर कुछ मुसलमान गुण्डे खड़े हुए हैं, और जो इक्के-दुक्के आदमी घबड़ाहट में उधर निकल पड़ते हैं, उन पर लाठियों की वर्षा होने लगती है। बाबू साहब उलटे पैर भागे और बड़ी कठिनाइयों के बाद किसी तरह उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ रामप्यारी से साथ छूट गया था; किन्तु इस समय रामप्यारी यहाँ कहीं न थी। वे भय और दुविधा से काँप उठे। उनका दिल बैठने लगा, आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह वहीं ज़मीन पर बैठ गये।

सहसा एक ओर घोड़े के टापों का शब्द हुआ है। चोखेलाल ने सिर उठाकर देखा—मुन्शी दीनदयाल जो अभी दल के आगे-आगे थे, भागे जा रहे थे। चोखेलाल ने चिल्लाकर कहा महाशय! ज़रा सुनते जाइए। मैं बड़ी मुसीबत में हूँ, मेरी मदद कीजिये।

मुंशीजी ने एक बार मुड़कर देखा, और घोड़ा तेज़ कर दिया। किसी ने पीछे से कहा—यह है हमारे नेताओं का हाल? अभी ज़रा देर पहले कैसे जोम में थे; लेकिन झगड़ा होता देखा और दुम दबाकर भाग निकले! भइया, वह रुकनेवाले नहीं हैं, अब यहाँ लीडरी थोड़े ही करनी है।

चोखेलाल ने पीछे फिरकर देखा—एक दीर्घकाय, कसरती आदमी सिर से

पैर तक खद्दर पहने, लट्ठ लिए खड़ा हुआ है। उसके दाहिने और बायें कई जवान बड़ी-बड़ी लाठियाँ लिए खड़े हुए थे। उनके चेहरों से शौर्य, आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प टपक रहा था। उस टोली के सरदार ने कहा—क्या है, महाशय! मुझसे कहिये।

चोखेलाल एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोले—भाई! क्या पूछते हो! स्त्री की हठ का मारा हुआ इन्सान हूँ। घर में मेला देखने के लिए जिद कर रही थी। मैंने बहुत समझाया; लेकिन वह अपनी ज़िद पर अड़ी रही। लाचार और कोई उपाय न देख दल दिखाने लाया था। लौटते समय मैं भीड़ के रेले में पड़ गया। और वह पीछे छूट गई। अब उसका कहीं पता नहीं चलता। कहाँ ढूँढ़ूँ, क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

'नारायन! नारायन! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। इस समय सारे शहर में आग धधक रही है। ऐसे बुरे समय एक असहाय हिन्दू अबला का यों अकेली रह जाना, तो बहुत बुरा हुआ।'

'भाई, मैं तो लुट गया, कहीं का न रहा।'

सरदार ने सान्त्वना दी—ख़ैर आप चिन्ता न करें। इन वीरों को देखिए यह मेरे पसीने की जगह खून गिरानेवालों में हैं। आपकी इज्ज़त हमारी इज्जत है। अगर एक भी हिन्दू-स्त्री का सतीत्व नष्ट हुआ तो सारी हिन्दू-जाति की लाज गई। और यह धर्म पर मर मिटनेवाले वीर जाति की लाज जाते नहीं देख सकते। बहादुरो आओ।

होरीलाल और उसके वीर अनुयायी चोखेलाल को साथ लिए हुए सारी रात गलियों में चक्कर काटते रहे। जहाँ कहीं आहट मिलती, छिपकर सुनने लगते। कई स्थानों पर मुठभेड़ हुई। इन अवसरों पर वे ऐसे ऐसे हाथ दिखाते कि बिपच्छियों के छक्के छूट जाते थे। उनके द्वारा कितने ही भूले-भटके पथिकों की प्राण रक्षा हुई, कितने ही घर लुटते-लुटते बचे; किन्तु उनका कार्य सिद्ध न हुआ; इस तरह सारी रात खोजने पर भी रामप्यारी का कहीं पता न लगा।

सवेरा हुआ। पूर्वाकाश में सूर्य ने लाल आँख निकाली, मानो कोई स्नेही पिता अपने बच्चों को व्यर्थ झगड़ते देखकर क्रोध प्रकट कर रहा हो। हताश मनोवेदना से आन्दोलित चोखेलाल होरीलाल के घर गये। इस समय वे अपने

घर जाने का साहस न कर सके। मित्रों और पड़ोसियों से कैसे आँखें मिलायेंगे, उनके प्रश्नों का क्या उत्तर देंगे, उस घर में कैसे पैर रक्खेंगे, जिसका सब कुछ लुट गया? यह बाधाएँ कम न थीं। स्त्री और बच्चे की भोली-भोली सूरतें उनकी आँखों में फिरकर कलेजे पर चोटें करने लगीं।

शाम होते-होते सारे शहर में सशस्त्र सैनिकों का पहरा बैठ गया। अधिकारियों की ओर से नगर-भर में मुनादी हो गई कि कहीं भीड़ जमा न हो, और सायंकाल छः बजे के बाद कोई घर से न निकले; लेकिन हिन्दू-मुसलमान तो एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे थे, उन्हें इस मुनादी की क्या परवा थी। यदि सड़कों पर न लड़ पाते तो गलियो में हाथ चलाते थे। वर्षों की जंग खाई हुई तलवारें और छुरियाँ निकाली जा रही थीं। कोतवाली में शव-पर-शव चले आते थे; किन्तु कुछ पता न चलता था, कि किसने मारा, कहाँ मारा।

तीन दिन लड़ाई का बाज़ार गर्म रहा। दोनों पक्षों ने जी खोलकर हौसला निकाला; पुराने झगड़े नये किए गये, मुद्दतों के बदले चुकाये गये। इस विकट हत्याकाण्ड में कितने मनुष्य जान से मारे गए, कितने ज़ख्मी हुए—इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन था। इस बीच में चोखेलाल बराबर होरीलाल के घर ठहरे रहे। होरीलाल रामप्यारी को ढूँढ़ निकालने में अभी तक असफल रहे। किन्तु निराश नहीं हुए थे। वे चोखेलाल को नित्य आश्वासन देते—बाबू साहब! आप निश्चिन्त रहिए। एक एक बदमाश का घर खोदकर फेक दूँगा, या तो उनका पता लगाऊँगा, या प्राण दे दूँगा।

चौथे दिन की बात है। दिन का तीसरा पहर था। और दिनों की तरह आज भी चोखेलाल होरीलाल को लेकर कोतवाली पहुँचे। विचार था, कदाचित् आज कुछ पता लगे। कोतवाली में इस समय फ़रियादियों की भीड़ लगी हुई थी। चोखेलाल और होरीलाल भी एक कोने में खड़े हो गये। सबकी शिकायतें रोज़नामचे में दर्ज की जाती थीं; किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य और दुःख होता था, कि इन शिकायतों पर कोई विशेष कार्यवाही नहीं की जा रही थी और कर्मचारियों के पास उन अन्याय-पीड़ित फ़रियादी के लिए व्यंग के अतिरिक्त और कुछ न था। इस प्रकार आधा घण्टा बीत गया। चोखेलाल को नैराश्य घेरने लगा। सहसा उन्होंने देखा—एक बूढ़ा मुसलमान, सामान्य

वस्त्र पहने, एक छोटे-से बच्चे को कन्धे पर बैठाले हुए फाटक के भीतर घुसा। उसके पीछे-पीछे एक स्त्री सिर से पैर तक एक चादर ओढ़े हुए चली आ रही थी; चोखेलाल ने एक क्षण नवागन्तुकों को ध्यान से देखा, फिर उनकी ओर लपके।

बूढ़े मियाँ ने रमेश को चोखेलाल की गोद में देकर मुस्कराते हुए कहा—जनाब! ये तीन रोज़ मेरे मेहमान रहे, आपको यक़ीन नहीं हो सकता, कि अपने मेहमान को रुख़सत करने में किस क़दर रूहानी तकलीफ़ हो रही है; लेकिन मुझे इस बात की खुशी है कि आपकी अमानत आपको सुपुर्द कर रहा हूँ।

चोखेलाल की आँखों में आँसू छलक आये। होरीलाल झपटे और बड़े मियाँ के गले से लिपट गये, फिर कण्ठावरुद्ध होकर बोले—मियाँ साहब! इतने बड़े नगर में आप ही एक आदमी हैं, जिसने धर्म का असली मतलब समझा है। आप सच्चे मुसलमान हैं! आपको धन्य है!

वहाँ सैकड़ों आदमी खड़े थे, सभी के मुख में प्रशंसा थी—वाह, वाह! शराफ़त इसे कहते हैं—दूसरे की बहन-बेटी को अपनी बहन-बेटी समझना!

सबके पीछे, अलग खड़ी हुई रामप्यारी, चादर के भीतर-ही-भीतर आँखें पोंछ रही थी। इस समय उसके हृदय में आह्लाद था, कृतज्ञता थी, पश्चात्ताप था।

बूढ़े मियाँ ने यह बयान दिया—मेरा नाम रमज़ान अली है। मैं क़रीब ही रहता हूँ, जिल्दबन्दी का काम करता हूँ। जिस दिन झगड़ा शुरू हुआ, उस दिन शाम को मैं अपने घर में बैठा हुआ सितार बजा रहा था। एकाएक बाहर शोर-गुल सुनाई देने लगा। मैंने सितार बन्द कर दिया और लालटेन लेकर बाहर निकला। मैं बाहर चबूतरे पर आया ही था, कि एक शरीफ़ घराने की औरत बग़ल में एक बच्चा लिए हुए सहमी हुई, गली में दाख़िल हुई। वह औरत थोड़ी दूर पर रुक गई। मैं चबूतरे से नीचे उतरा और क़रीब जाकर पूछा—किसे ढूँढ़ती हो? उसने कुछ जवाब नहीं दिया। तब मैंने कहा—बेटी! डरो नहीं, बताओ क्या ममला है? उसने डरी हुई आवाज में कहा—मैं अपने पति के साथ मेला देखने आई थी। हम लोग घर लौटे जा रहे थे। इतने में झगड़े का शोर सुनाई दिया, फिर भीड़ में उनका साथ छूट गया। वह नेकज़ात

खातून यही बाबू चोखेलाल साहब की बीवी मुसम्मात रामप्यारी देवी थीं। मैं इन्हें समझा-बुझाकर अपने घर लिवा ले गया। मेरे घर में तीन दिन रहीं। मैंने अपने एक हिन्दू-दोस्त के ज़रिये इनके खाने-पीने का इन्तज़ाम करा दिया। वह हिन्दू साहब इन्हें अपने घर में जगह देने के लिए तैयार थे ; लेकिन इन्होंने मेरे यहाँ रहना पसन्द किया। मैंने और मेरी बीबी ने इनके मज़हबी खयालात की पूरी इज्ज़त की। झगड़े की वजह से अभी तक मैं इत्तला नहीं कर सका था।

सन्ध्या-समय बाबू चोखेलाल की मित्र-मण्डली उनके घर पर जमा हुई। सब ने बाबू साहब के प्रति सहानुभूति प्रकट की। बड़ी रात तक रमज़ान की प्रशंसा होती रही, और राजकर्मचारियों के कुप्रबन्ध की कड़ी आलोचना। मित्रों को विदा करके दस बजे के लगभग चोखेलाल अन्दर गये। रामप्यारी लोटे में जल लेकर समीप आई। हाथ-मुँह धोकर चोखेलाल ने रसोई-घर में प्रवेश किया। रामप्यारी खाना परोसने लगी।

चोखेलाल ने मुस्कराते हुए पूछा—फिर मेला देखने जाओगी ?

रामप्यारी ने पति के मुख की ओर घूरकर देखा, फिर दृढ़ता से बोली—हाँ जाऊँगी, ज़रूर जाऊँगी, अगर ऐसे देवता से फिर भेंट हो सके।

वार ख़ाली गया। एक क्षण चुप रहकर चोखेलाल ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा, फिर सिर हिलाते हुए कहा—ऐसे साधु-चरित्र आदमी नित्य नहीं मिलते।

'तो फिर मेला भी हो चुका। इन तीन दिनों में मैंने वह देखा है, जो फिर देखने को आँखें तरस जाएँगी। मुझे तो यह तअज्जुब होता है कि कोई ग़ैर के साथ इतनी मुहब्बत दिखा सकता है। उन लोगों ने मेरी कितनी ख़ातिर की, मेरे लिए घर का एक हिस्सा ख़ाली कर दिया, एक हिन्दू पड़ोसी के यहाँ से बर्तन ले आये, हर वक्त पूछते रहते थे, किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है बेटी ? इतनी ख़ातिर कोई अपना कुटुम्बी भी न कर सकता।'

चोखेलाल सिर झुकाकर भोजन करने लगे।

[ ४ ]

रमज़ानअली चोखेलाल के घर के-से आदमी हो गये। वे उनके यहाँ सप्ताह में दो बार अवश्य जाते और जब जाते तो रमेश के लिए कोई-न-कोई खिलौना

अवश्य लेते जाते। रामप्यारी बहुत मना करती; किन्तु वे न मानते। खिलौनों का एक अच्छा ढेर लग गया था।

आज चोखेलाल के घर जाते समय रमज़ान ने बाज़ार में एक नया जापानी खिलौना देखा, चट ख़रीद लिया।

दरवाज़े के बाहर से रमज़ान ने आवाज़ लगाई—रमेश! भइया रमेश।

रामप्यारी ने अन्दर से कहा—चले आइये, अब्बा, दरवाज़ा खुला है।

रमज़ान ने घर में प्रवेश किया। जल्दी से सहन में पलँग बिछाकर रामप्यारी रमज़ान के पैर छूने को बढ़ी।

'यह क्या करती हो, ?'

रामप्यारी ने इस आपत्ति पर कुछ ध्यान न दिया। तब आशीर्वाद देकर रमज़ान पलँग पर बैठ गये। खिलौनों की ओर देखकर रामप्यारी ने कहा—अब्बा, क्यों फ़िज़ूल पैसा बर्बाद करते हो! खिलौने तो ढेरों रखे हैं।

रमज़ान ने कोई उत्तर न दिया। रामप्यारी ताड़ गई कि उसका बार बार मना करना, उन्हें बुरा लगता है। वह कमरे में गई और रमेश को उठा लाई। रमज़ान को देखते ही रमेश उनकी गोद में उतर पड़ा और उनकी सफ़ेद दाढ़ी से देखने लगा। फिर खिलौना देखते ही उनकी गोद से उतरकर उसकी ओर लपका।

रामप्यारी ने सकुचाते हुए पूछा—अब्बा, एक बात पूछूँ, बताओगे?

'क्या है, बेटी?'

रामप्यारी ने दीवार के सहारे खड़ी-खड़ी कहा—आपने उस दिन हमारी मदद क्यों की? आपके जातवाले तो हम लोगों से कीना रखते हैं।

रमज़ान ने रमेश को अपनी गोद में ले लिया, और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—बेटी, इसका जवाब तो रमेश ही दे सकता है। मेरे इस नन्हें बादशाह से पूछो। इसी ने उस दिन मेरे ऊपर जादू डाला था। इसी ने मुझे शराफ़त का सबक़ दिया, वर्ना मैं तो बुराइयों में फँसा हुआ आदमी हूँ। बेटी, तुम समझती हो, मैं पैसा बरबाद करता हूँ; लेकिन तुम्हारा यह ख्याल ग़लत है। मैं तो अपने बादशाह को नज़रें देता हूँ। बीस साल हुए, मेरा हामिद मुझसे छीन लिया गया था; लेकिन मैं खुशनसीब हूँ कि मेरा खोया हुआ बादशाह उस दिन मुझे फिर वापस मिल गया। मेरे जादूगर! मेरे बादशाह!

स्नेह-विह्वल होकर रमज़ान रमेश को बार-बार चूमने लगे। अनन्त पथ पर भटकता हुआ बटोही, अपने खोये हुए साथी को पाकर स्वर्गिक आह्लाद से आन्दोलित हो उठा। कल और आज का मध्यवर्ती समय आज की सत्प्रेरणा से प्रभावान्वित होकर विस्मृति के वृक्ष में विलीन हो गया।

रामप्यारी का हृदय कृतज्ञता से भर गया। उसकी आँखों में श्रद्धा और भक्ति के आँसू छलकने लगे। उसे ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो रमज़ान इस संसार का नहीं, किसी दूसरे दिव्य लोक का निवासी है।

फिर रमज़ान की ओर देखते-देखते उसे ऐसा जान पड़ा, मानो वृद्धावस्था के उस विकृत रूप में सरल, निर्बोध शैशव किलकारियाँ मार रहा है! उस समय उसका नारी-हृदय अगाध मातृ-वात्सल्य लेकर रमज़ान और रमेश की ओर वेग से प्रभावित हो चला।

---

श्री रामचन्द्र टंडन

# लाल झंडी

सिमियन इवानफ़ एक गुमटिया था। रेल आने के समय फाटक बन्द करके गुमटी पर मौजूद रहना और गुमटी की हद में जितनी रेल की पटरियाँ थीं, उन्हीं की देख रेख रखना उसका काम था। उसकी गुमटी बीच जङ्गल में स्थित थी। एक ओर का स्टेशन आठ मील और दूसरी ओर का छः मील की दूरी पर था। वहाँ से तीन मील की दूरी पर, अभी साल भर हुआ, एक कपड़ा बुनने का पुतलीघर खुला था। इस पुतलीघर की लम्बी काली चिमनी जंगल के पीछे वहाँ से दिखाई पड़ती थी। आसपास कोई बस्ती नहीं थी। बस्ती के नाम पर यहीं दूर-दूर पर बनी हुई और गुमटियाँ थीं।

सिमियन इवानफ़ का स्वास्थ्य बिलकुल बिगड़ गया था। आज से नौ वर्ष पहले तो वह हट्टा-कट्टा आदमी था। तब वह एक फ़ौजी अफ़सर की नौकरी में था और रूस और तुर्की के बीच में होनेवाली एक लड़ाई भी देख चुका था। उसने धूप और वर्षा, सर्दी और गर्मी सभी सहन की थी। भूखे प्यासे बीस-बीस, पच्चीस-पचीस मीलों की मंजिल मारने का भी उसे अनुभव था। कई बार गोलाबारी के लपेट में पड़ चुका था। बन्दूक की गोलियाँ उसके कानों के पास से सनसनाती गुजर गई थीं; लेकिन ईश्वर की कृपा से उसे एक भी लगी न थी।

सिमियनवाला रिसाला एक बार बिल्कुल आगे पड़ गया था। पूरे एक सप्ताह तक तुर्की सैनिकों का सामना रहा। प्रतिद्वन्द्वी फ़ौजों के बीच में केवल एक दर्रा था और सबेरे से साम तक दोनों ओर से बन्दूकें चला ही करती थीं। दिन में तीन बार सिमियन बावर्चीखाने में उसे दर्रे तक अपने अफ़सरों के लिए चाय, पानी और खाना पहुँचाता। गोलियाँ उसके पास से सनसनाती हुई चट्टान में जाकर लगतीं। वायुमण्डल बन्दूकों की आवाज़ से गूँजा करता। सिमियन बहुत भयभीत होता, कभी-कभी चिल्ला उठता, परन्तु अपने काम में मुस्तैद था। अफ़सर लोग उससे प्रसन्न इसलिए रहते कि उन्हें सदा गर्म चाय पहुँचती थी।

जब वह लड़ाई से लौटा, तो ईश्वर की दया से उसके हाथ पैर तो सही सलामत थे ; लेकिन उसे गठिया का मर्ज़ पैदा हो गया था। इस बीच में उस पर दुःख भी थोड़ा नहीं टूटा था। उसको अपने गाँव में घर आने पर पता चला कि उसका वृद्ध पिता और चार वर्ष का एकलौता बेटा मर गया। सिमियन अपनी स्त्री के साथ अकेला रहने लगा। गठिया का मर्ज़ बुरा होता है। दोनों मिलकर भी बहुत न कमा पाते। उन दोनों ने सोचा गाँव में अब गुज़र नहीं होता ; इसलिए गाँव छोड़कर दूसरी जगह नौकरी की खोज में निकल पड़े। थोड़े दिन तो उन्हें किसी रेल के स्टेशन पर कुछ काम मिल गया ; लेकिन वह बँधी नौकरी नहीं थी। इसके बाद उसकी स्त्री को कहीं धन्धा मिल गया ; परन्तु सिमियन् योंही बेकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरने लगा। एक बार उसे किसी एञ्जिनवाले ने एञ्जिन पर बैठा लिया। एक स्टेशन पर उसे स्टेशन मास्टर का मुँह परिचित-सा जान पड़ा। सिमियन स्टेशन मास्टर को ध्यान से देखने लगा, और स्टेशन मास्टर भी सिमियन का मुँह देखने लगे। फिर दोनों एक दूसरे को पहचान गये। वह स्टेशन मास्टर सिमियन के रिसाले का एक अफ़सर रह चुका था।

उसने कहा—तुम्हारा नाम इवानफ़ है ?

'जी हुजूर।'

'तुम यहाँ कैसे ?'

सिमियन ने अपनी कहानी कह सुनाई।

'अच्छा, तुम जा कहाँ रहे हो ?'

'कहाँ बताऊँ हुजूर !'

'बेवकूफ़, 'कहाँ बताऊँ' के क्या मानी ?'

'हजूर ठीक ही कहता हूँ। मेरे लिए कहीं जाने की जगह नहीं है। काम की खोज में मारा-मारा फिर रहा हूँ।'

स्टेशन मास्टर ने उसकी ओर फिर ध्यान से देखा, एक क्षण कुछ विचार करके बोला—अच्छा तो भई, तुम यहीं स्टेशन पर ठहर जाओ तुम्हारा तो ब्याह हो चुका है न ? तुम्हारी घरवाली कहाँ है ?

'जी हुजूर, मेरा ब्याह हो गया है, मेरी घरवाली ने कुरश में एक सौदागर के यहाँ नौकरी कर ली है।'

'अच्छा, तो उसे भी लिखकर बुला भेजो। एक गुमटिहे की जगह खाली हुई है। मैं बड़े साहब से तुम्हारी सिफारिश कर दूँगा।'

सिमियन ने कहा—हुजूर की बड़ी मेहरबानी होगी।

सिमियन वहीं स्टेशन पर उतर गया। स्टेशन मास्टर के चौके में काम करता, जलाने की लकड़ी काट लाता, आँगन साफ रखता और स्टेशन के प्लेटफार्म पर झाड़ू लगाता। एक पखवारे में उसकी घरवाली भी आ गई और दोनो एक ट्राली पर सवार कराकर अपनी गुमटी पर पहुँचा दिये गये। गुमटी नई ही बनी थी, खूब गर्म थी। जलाने के लकड़ी की कोई कमी नहीं थी—सारा जंगल ही पड़ा हुआ था। गुमटी से मिला हुआ एक छोटा-मोटा तरकारी का बगीचा भी था, जिसे पहले गुमटिहे ने लगाया था। रेल की पटरी के दोनों ओर बीघा-दो-बीघा जुताऊ भूमि भी थी। सिमियन का जी खुश हो गया। सोचा, धीरे-धीरे थोड़ी सी खेती भी कर लेंगे, और एक गाय और एक घुड़िया भी रख लेंगे।

महकमे से उसे सब आवश्यकीय वस्तुएँ मिल गईं। एक हरी झंडी, लाल झंडी, लालटेन, बिगुल, हथौड़ी, सनसी, कुदाल, झाड़ू, ढिबरियाँ, काँटियाँ—जिन-जिन वस्तुओं की जरूरत थी, वह पा गया। इसके साथ ही उसे एक टाइम-टेबिल और एक नियमावली भी मिली। शुरू में तो सिमियन को रात-रात भर नींद न आती। पड़ा-पड़ा टाइम-टेबुल देखा करता, यहाँ तक कि उसे सारा टेबिल याद हो गया। गाड़ी आने के समय से दो घण्टा पहले ही वह अपनी गुमटी के सामने बेंच पर बैठ जाता और कान लगाकर गाड़ी की घरघराट सुनता, तथा पटरियों का हिलना देखता। उसे नियमावली भी पूरी-पूरी याद हो गई।

गर्मी का मौसम था। काम अधिक नहीं। पटरियों पर से बर्फ साफ करने का काम नहीं था। गाड़ियाँ भी बहुत कम आती थीं। सिमियन अपनी हद के भीतर की पटरी दिन में दो बार देख-भाल लेता। जहाँ ढिबरियाँ ढीली होतीं, उन्हें कस देता। पानी के नल को भी देख लेता और फिर अपने धन्धे में

लगता। इस नौकरी में एक ही बुराई थी। अगर उसे ज़रा-सी भी कोई निजी काम करने की इच्छा होती, तो उसके लिए इन्सपेक्टर की इजाजत माँगनी पड़ती। इससे सिमियन और उसकी घरवाली—दोनों का जी ऊबने लग गया था।

दो महीने बीते। सिमियन ने धीरे-धीरे अपने दोनों ओर के पड़ोसी गुमटिहों से जान-पहचान पैदा कर ली। इनमें से एक तो बहुत वृद्ध हो गया था और महकमा उसकी जगह पर दूसरा गुमटिहा नियुक्त करनेवाला था। वह अपनी गुमटी छोड़कर बहुत कम बाहर आता जाता। उसकी स्त्री उसका सब काम सँभाले हुई थी। दूसरी ओर का गुमटिहा एक जवान आदमी था। था तो बहुत दुबला-पतला; लेकिन गठे शरीर का था। सिमियन की और उसकी पहली भेंट दोनों की गुमटियों के बीचोबीच रेल की पटरी ही पर हुई थी। सिमियन ने अपनी टोपी उठाकर उसका अभिवादन किया था। पूछा था—भाई, कुशल से तो हो?

लेकिन उस पड़ोसी ने उसे तिरछी नजर से देखकर केवल इतना कहा था—हाँ, सब कुशल है, तुम तो कुशल से हो? बस, इतने अभिवादन के बाद वह अपनी राह चला गया था।

कुछ दिनों बाद दोनों की घरवालियों की भी भेंट हुई। सिमियन की स्त्री अपनी पड़ोसिन के यहाँ दिन में अकसर आती-जाती; लेकिन वह भी बहुत बातचीत न करती।

एक दिन सिमियन ने अपनी पड़ोसिन से कहा—भली औरत, तेरा आदमी सदा चुप्पी क्यों साधे रहता है? मैं तो उसे बहुत कम बोलता चालता देखता हूँ।

पहले तो स्त्री भी चुप रही; परन्तु बाद में उसने उत्तर दिया था कि बातचीत भी क्या करें? हर एक आदमी अपने धन्धे में लगा रहता है। तुम भी अपने काम में लगो। भगवान् तुम्हारा भला करे।

परन्तु एक महीना बीतते-बीतते पड़ोसियों में परिचय बढ़ गया। सिमियन अपने पड़ोसी वासिली के साथ पटरी के किनारे बैठकर हुक्का पीता और ज़िन्दगी के प्रश्न पर चर्चा किया करता। वासिली अधिकतर चुपचाप बैठा रहता और सिमियन अपने गाँव की तथा अपनी पलटन की चर्चा किया करता।

सिमियन अक्सर कहता—भाई, मैंने थोड़ा कष्ट नहीं सहा है, और अभी मेरी उम्र ही कितनी है। भगवान् ने हमें कोई ऐसा सुख न दिया, लेकिन जैसी उसकी मर्ज़ी होगी, वैसा ही होगा। इसमें कोई फ़र्क़ नहीं हो सकता। भाई वासिली, बात यहीं है न?

वासिली पटरी के पास हुक्के की राख गिराकर उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—इस ज़िन्दगी में भाग्य हमारा पीछा नहीं करता, पीछा करते हैं हमारे ही भाई-बन्द। मनुष्य से अधिक निर्दयी जन्तु इस पृथ्वी पर दूसरा नहीं बनाया गया। भेड़िया भेड़िये को नहीं खाता; लेकिन आदमी-आदमी को सहज ही में खा जायगा।

'न भाई, ऐसा न कहो; भेड़िया ही भेड़िये को खाता है।'

'जो बात मेरी समझ में नहीं आती है, वही कहता हूँ। सच बात तो यही है, आदमी से बढ़कर निर्दयी जीव कोई दूसरा नहीं। आदमी अपनी दुष्टता और लोभ को छोड़ दे, तो संसार रहने-लायक़ जगह हो जाय। जिसे देखो, वही तुम्हारे डंक मारना चाहता है और चाहता है कि तुम्हें खा जाय।'

सिमियन ने क्षण-भर सोचकर कहा—भाई, मैं नहीं कह सकता। शायद वही ठीक है, जो तुम कह रहे हो। और शायद यही ईश्वर की मर्ज़ी है!

वासिली चिढ़कर बोल उठा—और शायद तुमसे बात करना भी मूर्खता है और समय नष्ट करना है। तुम सभी अप्रिय बातों को भगवान् के सिर पर रख देते हो। इसका अर्थ यह होता है कि तुम मनुष्य नहीं हो, पशु हो! और मैं इससे ज्यादा क्या कहूँ।

यह कहकर वासिली ने अपने मित्र की ओर पीठ फेर ली और बिना नमस्कार किये हुए ही वहाँ से चला गया।

सिमियन भी उठ खड़ा हुआ। पुकारकर कहा—भाई नाराज़ न हो; सुनो तो। मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं कही है।—लेकिन वासिली चला ही गया, रुका नहीं।

सिमियन एकटक खड़ा देखता रहा। जब तक वासिली वहाँ से दिखाई देता रहा, तब तक वह वहीं खड़ा रहा। फिर अपनी गुमटी पर चला आया। घर आकर सिमियन ने अपनी स्त्री से कहा—अरी ना, हमारा पड़ोसी बड़ा दुष्ट है, उसे तो आदमी न कहना चाहिए।

सिमियन लड़ाके स्वभाव का न था। दोनों की फिर भेंट हुई। दोनो फिर उसी भाँति मिलने और उन्हीं विषयों पर वार्त्तालाप करने लगे।

एक अवसर पर वासिली ने कहा—अरे मित्र, मनुष्यों की नीचता के कारण ही हम लोग इन झोपड़ों में ठूँस दिये गये हैं।

'तो इन झोंपड़ों में रहना क्या बुरा है? इनमें आदमी क्या रह नहीं सकता?'

'ज़रूर रह सकता है! क्यों नहीं? अरे तुम—तुम इतने बड़े हुए; पर आज तक अक्ल न आई। बहुत दुनिया देखी; पर समझ जैसी-की तैसी बनी रही। यहाँ झोपड़ी में हम लोगों की जैसी ज़िन्दगी बीत रही है, मैं जानता हूँ। अरे, मनुष्य-भक्षी लोगों के चंगुल में हम लोग फँसे हुए हैं। ये लोग हमारा ख़ून चूस लेते हैं, और हम वृद्ध हो जायँगे तो हमें उस प्रकार से लोग निकाल बाहर कर देंगे, जिस प्रकार कि अन्न के ऊपर से भूसी निकालकर सुअरों के आगे डाल दी जाती है। तुम क्या तनख्वाह पाते हो?'

'वासिली, मेरी तनख्वाह तो ज़्यादा नहीं है—बारह रूबल* है।'

'और मैं साढ़े तेरह रूबुल पाता हूँ। बताओ, नियमावली में लिखे अनुसार हमें पन्द्रह रूबुल मिलना चाहिए, कि नहीं? जलाने की लकड़ी और रोशनी इसके अलावा है। क्यों इसमें भी कतरनी लगाई जाती है? डेढ़ या तीन रूबुल की कोई बात नहीं।.. तुम्हीं कहो, भला इतने मे कोई रह सकता है? पन्द्रह रूबुल पूरे मिलें, तब भी उसमें क्या हो सकता है। अभी पिछले महीने में मैं स्टेशन पर गया हुआ था। बड़े साहब गुजर रहे थे। मैंने भी देखा। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके लिए एक पूरा डिब्बा अलग था—कैसा डिब्बा था, क्या बताऊँ। आप अकड़कर उसमें से निकले और प्लेटफ़ार्म पर खड़े हो गये। लोगों ने सलामियाँ बजाईं और चले गये। अपनी हालत पर ध्यान दो। मैं तो यहाँ नहीं रुकने का, मैं कहीं चला जाऊँगा, चाहे जहाँ चला जाऊँ, जहाँ कहीं अपने पैर ले जायँगे, चला जाऊँगा।

'लेकिन वासिली तुम जाओगे कहाँ? इस झगड़े मे न पड़ो। यहाँ घर है, आराम है। जोतने के लिए थोड़ी-सी ज़मीन मिल गई है। घरवाली भी तुम्हारी काम-काजी है, और क्या चाहते हो?'

---

* रूसी सिक्का।

'ज़मीन मिल गई है ? क्यों नहीं ? मेरी ज़मीन देखो तो पता चले, एक पत्ती तो उसमें उगती नहीं। पिछली फ़सल में मैंने कुछ गोभियाँ बो दी थीं। मुआइने के लिए इंस्पेक्टर आया हुआ था, बोला—यह क्या है ? इसकी रिपोर्ट तुमने क्यों नहीं दी ? बिना इजाजत तुमने यह क्या किया ? इन्हें जड़ से खोदकर अभी फेंक दो। पाजी शराब पिये हुए था। दूसरे वक्त आया होता, तो उसे इसका ख़याल भी न होता ; लेकिन नशे में सूझती भी तो है ! हुआ क्या ? तीन रूबुल जुर्माना कर गया।'

वासिली क्षण-भर चुप रहा, हुक्का पीता रहा। फिर स्थिर-भाव से कहने लगा—ज़रा कुछ और बोलता, तो मैं भी उसकी मरम्मत किये बिना न रहता।

'भाई तुम्हारा मिज़ाज बड़ा गर्म है।'

'अजी नहीं, यह बात नहीं है, मैं सच कहता हूँ, मुझे बात लग गई। हाँ देखो, एक दिन मैं उसकी नाक लाल किये बिना न रहूँगा। मैं बड़े साहब के यहाँ तक मामला पहुँचाऊँगा। देखना।'

वासिली ने सचमुच बड़े साहब तक शिकायत पहुँचा दी।

एक बार बड़े साहब आप ही पटरी का मुआइना करने के लिए आये। बात यह थी, कि सेंटपीटर्सबर्ग ( राजधानी ) से कुछ प्रसिद्ध राजनैतिक व्यक्ति किसी मामले की जाँच में यहाँ से गुज़रनेवाले थे। इसलिए यह आवश्यक समझा गया, कि लाइन बिलकुल ठीक रहे। फिर क्या था, पत्थर के रोड़े फिर से बिछाये जाने लगे। पटरियाँ बराबर की जाने लगीं, लकड़ी के स्लीपरों का मुआइना हुआ। ढिबरियाँ कसी जाने लगीं, आँकड़े ठीक किये गये। खम्भे रँगे गये। गुमटियों के पास बालू पड़ने लगा—सारांश यह कि उन राजनीतिज्ञों के स्वागत में जो-जो सामान हो सकता था, किया गया। पड़ोस के बुड्ढे गुमटिहे की स्त्री ने अपने पति को घास साफ़ कर डालने के लिए कहा। सिमियन भी लगातार एक सप्ताह तक मेहनत करता रहा। उसने सब सामान लैस कर दिया, अपनी वरदी साफ़ की और मरम्मत की। उसने पीतल के बटन चमकाये। वासिली ने भी पूरी मेहनत की। अन्त में बड़ा साहब अपनी पहियोंवाली ट्राली पर सनसनाता हुआ पन्द्रह मील की रफ्तार से उधर से गुज़रा। एकाएक उसकी ट्राली सिमि-

यन की गुमटी के सामने रुकी। सिमियन ने गुमटी से दौड़कर साहब को सलाम किया। साहब उसकी मुस्तैदी पर प्रसन्न हुए। सब बातें ठीक पाई गईं।

साहब ने पूछा—तुम यहाँ क्या बहुत दिनों से हो ?

'हुजूर, मैं दूसरी मई से यहाँ नोकर हुआ हूँ।'

'ठीक है। नं० १६४ की गुमटी पर कौन है ?'

बड़े साहब के साथ छोटा साहब भी था, वह बोल उठा—वासिली स्पिरिडाफ़ है।

बड़े साहब ने सिर खुजाते हुए कहा—स्पिरिडाफ़, स्पिरिडाफ़ कौन, वही तो नहीं, जिसकी पिछली बार तुमने मुआइने में शिकायत की थी ?

'जी हाँ, वही है।'

'अच्छा तो अब उसका मुआइना करूँगा। चलो।'

ट्राली चलानेवालों ने पहिया घुमाया और फिर ट्राली दौड़ती नज़र आई। सिमियन उसे ध्यान से देखता रहा। मन में सोचने लगा आज वासिली से और इनसे कुछ खटपट ज़रूर होगी।

क़रीब दो घण्टे बाद वह अपने नित्य-नियम-अनुसार पटरी की निगरानी के लिए निकला। उसे दूर पर कोई पैदल आता हुआ दिखाई पड़ा। आनेवाले के सिर पर कुछ सफेद-सा दिखाई पड़ रहा था। सिमियन और भी ध्यान से देखने लगा। वासिली ही आ रहा था। हाथ में एक लाठी थी, पीठ पर एक छोटी-सी गठरी और उसके मुँह पर एक अँगौछा बँधा हुआ था।

सिमियन ने पुकारकर पूछा—अरे कहाँ जा रहे हो ?

वासिली निकट आया। उसका मुँह मिट्टी के रँग-सा पीला पड़ रहा था; उसकी आँखों से वहशत मालूम पड़ रही थी। गला रुँध रहा था, बोला—शहर जा रहा हूँ। मास्को जाऊँगा—सदर दफ्तर में।

'सदर दफ्तर में क्यों जाओगे ? जान पड़ता है, शिकायत करने जा रहे हो। वासिली स्पिरिडाफ़, जाने दो भूल जाओ। इससे कुछ लाभ नहीं होने का।'

'नहीं भाई, भूल कैसे-जाऊँ ! यह भी भूलने की बात है ? बहुत हो चुका। उसने मेरे मुँह में इस ज़ोर से थप्पड़ लगाया, कि ख़ून निकल पड़ा। ज़िन्दगी-भर तो भूल नहीं सकता। मैं यह मामला यहीं तक थोड़े ही रहने दूँगा।'

सिमियन ने वासिली का हाथ पकड़ लिया। कहने लगा—मान जाओ। फ़िज़ूल का बखेड़ा न उठाओ, इसका कुछ भी नतीजा न होगा।

'नतीजा तो जो होना है, मैं जानता हूँ; लेकिन करूँ क्या ? तुम ठीक कहते थे कि भाग्य में होता है, होकर रहता है। ख़ैर, अपने हक़ के लिए भी लड़ लूँगा। आगे देखा जायगा।'

'लेकिन यह तो बताओ, कि बात क्या हुई ?'

बात कुछ भी न हुई। उसने सब चीज़ों की जाँच की। ट्राली पर से उतर-कर गुमटी के भीतर भी आया। मैं पहले ही से जानता था, कि वह बड़ी सख़्ती करेगा; इसीलिए मैंने सभी वस्तुएँ बहुत क़ायदे से रख छोड़ी थीं। वह जब चलने को हुआ, तो मैंने अपनी शिकायत फिर से पेश की। बस, इसी पर बिगड़ गया। कहने लगा—यहाँ तो सरकारी जाँच के लिए बड़े-बड़े लोग इस लाइन से आ रहे हैं और तुम्हें तरकारियों की पड़ी हुई है। मैं तुम्हारी गोभियों की सुनूँ, कि उनका इन्तज़ाम करूँ। बस; मेरे मुँह से भी कुछ निकल पड़ी, इस पर वह आग-बबूला हो गया। मुँह पर थप्पड़ लगा ही तो दिया। मैं खड़ा रहा, कुछ न बोला : उसके लिए जैसे कोई बात ही न हो। जब वह चला गया, तो मैंने भी मुँह धोया और सीधे आ रहा हूँ।'

'गुमटी की क्या फ़िक्र की है ?'

'मेरी घरवाली तो है ही। गुमटी पर वह रहेगी। पटरी की मुझे फ़िक्र नहीं!'

वासिली चलने लगा। कहने लगा—भाई इवानफ़, जाता तो हूँ। देखूं, दफ्तर से मेरी सुनवाई भी होती है कि नहीं। नमस्कार।

'तो क्या तुम पैदल ही इतनी दूर जाओगे ?'

'नहीं, अगले स्टेशन पर देखूँगा। कोई मालगाड़ी मिल गई, तो कल तक मास्को पहुँच जाऊँगा।

दोनों एक दूसरे को प्रणाम करके बिदा हुए। वासिली कई दिनों तक बाहर ही रहा। उसकी घरवाली रात-दिन मेहनत करके उसका काम सँभाले हुए थी। बेचारी को सोना हराम हो गया था। दिन-रात अपने आदमी की प्रतीक्षा में रहती। तीसरे दिन जाँच करनेवाले राज-नीतिज्ञ उधर से गुज़रे। उनके लिए स्पेशल गाड़ी थी; जिसमें एंजिन के अलावा एक असबाब का डिब्बा और दो

अव्वल दर्जे के डिब्बे लगे हुए थे ; परन्तु वासिली का अब तक कोई पता न था। चौथे दिन सिमियन उसकी घरवाली से मिला। बेचारी का रोते-रोते मुँह फूल आया था और आँखें लाल हो गई थीं।

सिमियन ने पूछा—तेरा आदमी लौटा कि नहीं? उसने हाथ हिलाकर जवाब दिया और अपने काम में लगी। एक बात भी मुँह से न निकली।

सिमियन ने लड़कपन में एक छोटा-सा हुनर सीख लिया था। वह नरकुल की डंडियों से एक प्रकार की बाँसुरी बना सकता था। वह नरकुल की डंडियों को भीतर से जलाकर साफ़ कर लिया करता, उसमें छेद कर लेता और मुँह के पास एक और टुकड़ा ऐसे ढंग से लगा देता कि सहज में बाँसुरी तैयार हो जाती और उसमें जैसा सुर चाहो, निकल आता। वह फ़ुरसत के समय ये बाँसुरियाँ तैयार करता और मालगाड़ी पर काम करनेवाले कुलियों के ज़रिए से शहर में भेज देता, वहाँ ये सब बिक जातीं। उसे भी एक-एक बाँसुरी के दो-दो कोपेक* मिल जाते। जिस दिन कमीशन उस तरफ़ से गुज़रा, उसके दूसरे दिन सिमियन अपनी घरवाली को गुमटी पर छोड़कर और ६ बजे गाड़ी पर मौजूद रहने के लिए कहकर आप जंगल में लकड़ी काटने के लिए चला गया। वह अपनी पटरी की हद तक पहुँच गया। यहाँ पर रेल की पटरी मोड़ खाकर एक पहाड़ी की तलहटी में जंगल के बीच होकर चली गई थी। यहाँ से क़रीब आधे मील की दूरी पर एक तालाब था। उसी के किनारे बहुत अच्छी नरकुल उठ रही थी। इन्हीं से बाँसुरियाँ बनाया करता था। सिमियन ने वहाँ पहुँचकर एक पूरा बोझ काटकर बाँधा और घर की ओर लौटा। सन्ध्या हो रही थी। सूर्य डूबने-वाला था। सन्नाटा था। केवल रह-रहकर घोंसले में लौटनेवाली चिड़ियों का चहचहाना सुनाई पड़ जाता था। सिमियन के कानों में अचानक ऐसी आवाज़ सुनाई दी, जैसी कि लोहे पर लोहा पीटने से होती है। उसने क़दम बढ़ाया। उन दिनों पटरी की मरम्मत भी आस-पास में कहीं नहीं हो रही थी। आखिर मामला क्या है? यही सोच रहा था। वह जंगल से निकलकर रेल की पटरी की तरफ़ आया। ऊपर सिर से ऊँचे पर उसे रेल की पटरी की उँचास मालूम

---

* रूसी सिक्का।

पड़ने लगी। उसने देखा कि पटरी पर कोई आदमी बैठा हुआ कुछ कर रहा है। सिमियन चुपके-चुपके उनकी ओर बढ़ने लगा। उसने समझा कोई चोर पटरी से ढिबरियाँ निकाल रहा है। वह ग़ौर से देख रहा था कि इतने में दूसरा आदमी भी उठ खड़ा हुआ। उसके हाथ में एक बड़ी संसी और थी। उसने रेल की पटरी बिलकुल खोलकर अलग कर दी थी। रेल के आते ही वह खसक-कर एक ओर गिर जाती। सिमियन की आँखों के सामने अँधेरा आ गया। वह चिल्लाना चाहता था; लेकिन उसके मुँह से आवाज न निकली। यह दूसरा आदमी था—वासिली! सिमियन ज्योंही उसके पास पहुँचा, वह अपनी संसी लेकर दूसरी ओर उतर गया।

'वासिली! अरे भाई, लौट आओ। लाओ अपनी संसी मुझे दे दो। हम लोग मिलकर पटरी ठीक कर देंगे। कोई जान भी न पावेगा। लौट आओ, ऐसा पाप अपने सिर पर न लो।'

वासिली ने पीछे घूमकर देखा भी नहीं। वह जंगल में गायब हो गया।

सिमियन उस निकाली हुई रेल की पटरी के पास खड़ा रहा। सिर से लकड़ी का बोझ उतार कर वहीं पटक दिया। गाड़ी आने में थोड़ा ही समय रह गया था। मालगाड़ी भी नहीं थी, सवारी गाड़ी थी। सिमियन के पास कोई ऐसी चीज़ नहीं थी, जिससे कि वह गाड़ी रोक सकता, झण्डी भी यहाँ नहीं थी। खाली हाथों रेल की पटरी ठीक नहीं हो सकती थी। बेचारा कर ही क्या सकता था। गुमटी तक दौड़कर पहुँचना और औज़ार ले आना बहुत आवश्यक था। मन में कहने लगा—ईश्वर तुम्हीं सहायक हो।

सिमियन अपनी गुमटी की ओर दौड़ा। उसका दम फूल रहा था; लेकिन बेचारा गिरता-पड़ता दौड़ रहा था। उसने बहुत रास्ता तो पार कर लिया; लेकिन जिस समय अपनी गुमटी के दो सौ क़दम पर पहुँचा होगा, तो उसे जंगल के उस पार के पुतलीघर की सन्ध्या की ६ बजनेवाली सीटी सुनाई दी। दो मिनट के भीतर सात नम्बर की गाड़ी आनेवाली थी। वह चिल्ला उठा—हे ईश्वर, बेकसूरों की रक्षा करना। उसे मन में ऐसा जान पड़ने लगा कि एञ्जिन उस निकली हुई पटरी तक पहुँच गया है, उसकी टक्कर से पटरी अलग हो गई है, लड़की के सिलीपर चूर-चूर हो गये हैं। आगे ही मोड़ है। रेल की

पटरी आस-पास की भूमि से सत्तर फीट की उँचाई पर है...एंजिन उलट कर नीचे आ रहेगा—तीसरे दर्जे के ठसाठस भरे हुए डिब्बे होंगे...छोटे-छोटे बच्चे होंगे, बेचारे स्वप्न में भी न सोचते होंगे कि यह भयानक स्थिति उनके सामने है।...हे भगवान्; क्या करूँ! गुमटी तक पहुँचकर लौटना असम्भव है...

सिमियन लौट पड़ा। अपनी गुमटी की ओर नहीं गया। लौटा और भी तेजी से। उसे अपने तन की सुध नहीं थी। मानों आँखें बन्द करके दौड़ रहा हो। उस पटरी तक पहुँचा। उसकी लकड़ियों का पास ही ढेर लग रहा था। उसने उसमें से बिना किसी विशेष विचार के एक लकड़ी निकाल ली और आप और भी आगे निकल गया, जिधर से गाड़ी आनेवाली थी, उसे जान पड़ा गाड़ी आ रही है। दूर से सीटी की आवाज़ भी उसे सुनाई दी। उसे पटरी का हिलना भी मालूम पड़ने लगा; लेकिन उसका दम टूट गया था। वह और आगे न बढ़ सका। उस अलग की हुई पटरी से करीब छः फीट की दूरी पर वह रुक गया।

उसके मन में अचानक यह बात आ गई। उसने अपनी टोपी उतारी। उसके भीतर से एक बड़ा रूमाल निकाला। कमर से छुरी निकाली। छाती पर हाथ रखकर प्रार्थना करने लगा—ईश्वर तेरी ही दया का भरोसा है।

सिमियन ने अपनी बाईं भुजा में चाकू भोंक दिया। खून की गर्म धार बह निकली। उसने अपने रूमाल को इसी में अच्छी तरह तर किया। फिर इसी रूमाल को फैलाकर लकड़ी में बाँधकर लाल झंडी बना ली।

वह झण्डी हिलाता रहा। गाड़ी दिखाई पड़ने लगी। रेल के ड्राइवर ने उसे न देखा, गाड़ी पास आ गई। छः सौ फीट के अन्दर इतनी बड़ी और तेज़ गाड़ी का रोकना सहज न था।

उधर सिमियन के हाथ से खून बराबर जारी था। सिमियन एक हाथ से अपना घाव दबाये हुए था; लेकिन खून का निकलना बन्द नहीं होता था। उसकी भुजा में गहरा घाव हो गया था। उसके सिर में चक्कर आने लगा। सिर के सामने अन्धेरा आ गया—बिलकुल अन्धकार जान पड़ने लगा। उसके कानों में घण्टी की-सी आवाज़ हो रही थी। न वह गाड़ी देख सका, न उसकी घरघराहट सुन सका। उसके मन में एक ही ख़याल उठ रहा था—मैं कैसे खड़ा रह

सकूँगा। ऐसा न हो कि मैं गिर पड़ूँ और गाड़ी गुज़र जाय, मुझे देख भी न पावे। भगवान्, मेरी सहायता करना!

उसके सामने अँधेरा छा गया, उसके मस्तिष्क में शून्य-सा जान पड़ने लगा। झंडी उसके हाथ से छूट गई; लेकिन वह खून की झंडी धरती पर गिरी नहीं। एक दूसरे हाथ ने उसे पकड़ लिया और खूब ऊँची करके उसे लिए रहा। एंजिनवाले ने उसे देखा और गाड़ी रोक ली।

लोग डिब्बों से कूद-कूदकर नीचे आने लगे। सिमियन के आस-पास एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। उन्होंने देखा कि पटरी के पास पगडंडी पर कोई ख़ून से लथपथ पड़ा हुआ है और एक दूसरा आदमी एक लकड़ी में ख़ून का चिथड़ा बाँधे खड़ा है।

वासिली ने एक बार आँखें घुमाकर सबकी ओर देखा। फिर सिर नीचा करके बोला—मुझे पकड़ लो, मैंने ही रेल की पटरी खोली है।*

———

* प्रसिद्ध रूसी लेखक गार्शिन की एक कहानी। (अनुवादक)